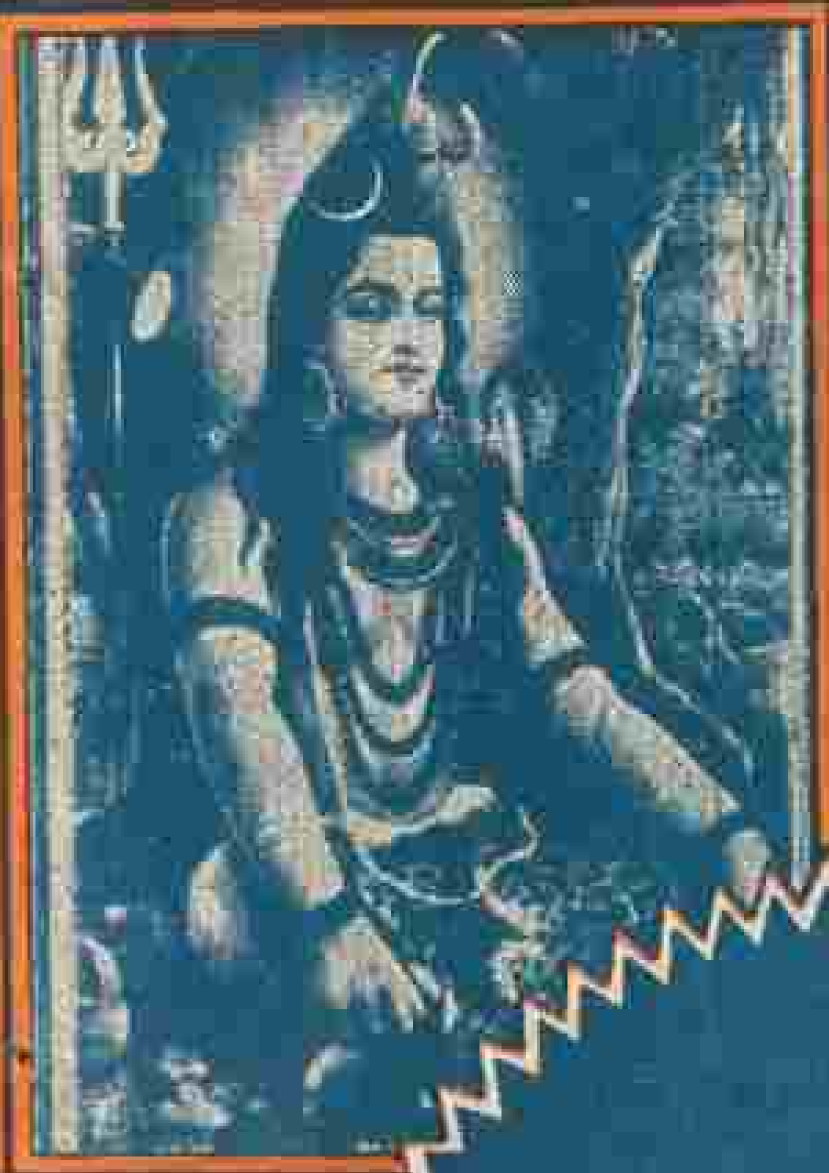

संस्थापक सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग

वर्ष- १७
अंक- १

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन संवाई आगरा

प्रकाशक

श्री सिद्धगुफा, सवाई

इस अंक में—

- तत्त्वयोगी भगवान् ने — १
- अणिमादिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति एवं पूर्ण-अस्तित्व — २
  योगयोगेश्वर जगद्गुरु श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
- सेवा से योगसिद्धि — ५
  श्री आचार्य चन्द्रहास शर्मा
- श्रेष्ठ दान और श्रेष्ठ दानी — ९
  श्री सुमंगला देवी उपाध्याय
- अभय से सत्त्व शुद्धि— — ११
  डा० श्री विजयसिंह,
- स्वरोदय-तत्त्व — १३
  ज्योतिष कला मर्मज्ञ श्री शिवनाथ मेहरोत्रा
- योगिराज श्री मुक्तराज जी महाराज — १८
  पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी द्वारा
- धारणा-ध्यान-समाधि — २०
  श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री
- अब कैसे खेलूँ केश-किनारे से मैं (कविता) — २६
  श्री प्रताप दीक्षित
- स्वरूप ज्ञान का महत्त्व— — ३०
  श्री पं० रामनरेश मिश्र शास्त्री
- महायोगी ऋषि मार्कण्डेय — ३८
  डा० श्रीमती राजकुमारी मिश्रा
- सद्गुरु सत्ता-सत्संग — ४१
  डा० श्री केशवराम शर्मा
- सुभाषित — ४६
  श्री 'दिव्य' जी
- पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम् — ४७

संस्थापक सम्पादक
'दिव्य'

जून १९८४

वार्षिक मूल्य २५ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुरु योग प्रशिक्षण केन्द्र, सराई (हलालपुर) आगरा ।

वर्ष १७
अङ्क ३

जून
१९८४

ध्यात्वं ध्यायं मदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वरूपं,
मर्त्यो मृत्योर्मुक्त विरतो, मुक्ति माप्नोति मुक्तः ।
तत्राप्यत्र बहुविधं योगमाहात्म्यदेश्यं,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥

❁ तस्माद्योगी भवार्जुन ❁

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

अर्थात्

हे अर्जुन ! तपस्वी, ज्ञानी और कर्म कांडियों की अपेक्षा योगी जन ही अधिक महत्व वाले होते हैं इसलिए तू योगी बन जा ।

इस वचनसे स्वर्गीय आदि सुखों के देनेवाले अग्निष्टोम आदि कर्म काण्डों का योग द्वारा खण्डन इसलिये किया गया कि वे सुख चिरस्थायी नहीं होते, क्योंकि—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।" पुण्य क्षीण हो जाने पर फिर मृत्युलोक में जन्म लेना पड़ता है और योगियों को फिर संसार-सागर डूबने का अवसर नहीं उपस्थित होता ।

हमारा विशेष लेख—

अणिमादिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति एवं पूर्ण वशित्व

योग-योगेश्वर श्रमण श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

भूतजय की साधना करने वाला योगी प्रकृति के प्रत्येक विभाजन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है। इसी का परिणाम होता है कि भूत जय प्राप्त कर लेने के बाद योगी को अणिमा-महिमा-प्राप्ति-प्राकाम्य-ईशत्व वशित्व एवं यत्र कामावसायित्व आदि-आदि ऐश्वर्य उसकी उसको स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। पढ़िये, भगवान पतञ्जलिदेव का आदेश—

ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ।

इसके साथ ही पढ़िए इस सूत्र पर व्यास भाष्य:—

तत्राणिमा भवत्यणुः । लघिमा लघुर्भवति। महिमा महान् भवति । प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम् प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके । वशित्वं भूतभौतिकेषु वशी भवत्यवश्यश्चान्येषाम् । ईशितृत्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे यत्र कामावसायित्वं सत्यसंकल्पता यथा संकल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम् । न च शक्तोऽपि पदार्थविपर्यासं करोति कस्मात् अन्यस्य यत्र कामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथा भूतेषु संकल्पादिति । एतान्यष्टावैश्वर्याणि कायसम्पद्वक्ष्यमाणा । तद्धर्मानभिघातश्च पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः शरीरादिक्रियां शिलामप्यनुविशतीति नापः स्निग्धाः क्लेदयन्ति नाग्निरुष्णो दहति न वायुः प्रणामी वहति अनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः सिद्धानामप्यदृश्यो भवति ।

अणिमा—सिद्धि का अर्थ है—योगी का अणु जैसा बन जाना। अर्थात् स्थूलकाय योगी भूतादि संयम के फलस्वरूप अपने आपको अणु के रूप में परिवर्तित कर लेता है, इसी का नाम अणिमा सिद्धि है।

लघिमा—लघिमा सिद्धि का अर्थ है स्थूल काय से योगी अपने आपको रूई से हल्का बना ले। जिस प्रकार ब्रज के वृन्दावन गोकुल में जाने पर भगवान श्रीकृष्ण ने अपने आपको

इतना हल्का बना लिया कि तृणावर्त राक्षस उनको रुई के मानिन्द उड़ाकर आकाश में ले गया और आकाश में ही उनके द्वन्द्व-युद्ध में आघात से मर कर जमीन पर गिर पड़ा । श्री बालकृष्ण उसकी छाती पर आनन्द से खेल रहे थे । यह सब उनकी स्वतः सिद्ध लघिमा सिद्धि का प्रभाव था ।

महिमा—महिमा सिद्धि का अर्थ है योगी का अपने आपको महान बना लेना । देखने वाले देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं कि इनका यह महान रूप कैसे और कहां से हुआ । इस विषय में भी श्रीकृष्ण भगवान का अर्जुन को अपना महान विश्वरूप दिखलाना एक ज्वलन्त उदाहरण है, जिसको देखकर अर्जुन जैसा वीर भी भयभीत हो गया था और उसने हाथ जोड़कर विनयतापूर्वक कहा था—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या,
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति,
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्ध संघाः

अर्थात् हे प्रभो ! यह उचित ही है कि तुम्हारी कीर्ति को सुन करके जगत हर्षित होता है, और राक्षस लोग डरे हुए दिशा-विदिशाओं को भाग रहे हैं । सभी सिद्ध लोग आपको नमस्कार कर रहे हैं यह था उनकी महान महिमा का प्रभाव ।

प्राप्ति—प्राप्ति-सिद्धि का अर्थ है—योगी अपनी इच्छापूर्वक चन्द्रमा को भी स्पर्श करने की ताकत रखता है ।

प्राकाम्य—प्राकाम्य सिद्धि का अर्थ है—इच्छानभिघात अर्थात् योगी जैसा संकल्प करे वैसा ही हो जाय, इसी का नाम इच्छानभिघात है अर्थात् योगी चाहे जिस प्रकार जल में डुबकी लगा करके जल में से निकल आया करता है, इसीप्रकार जमीन में से भी निकल आवे ।

वशीत्व—वशीत्व सिद्धि-अर्थात् योगी का पंचमहाभूतों में और महाभूतों के कार्यों में पूर्ण अधिकार होना । यही वशीत्व सिद्धि कहलाती है । योगी सबको अपने वश में रखता है किन्तु वह स्वयं किसी के वश में नहीं रहता, यही इस सिद्धि का वशीत्व समझना है ।

ईशित्व—ईशित्व-सिद्धि का अर्थ है—पंच महाभूतों और महाभूतों के कार्यों पर योगी पूर्ण अधिकार रखता है । सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति एवं विनाश की भी ताकत होना ईशित्व सिद्धि कहलाती है ।

यत्र कामावसायित्व—अर्थात् सत्य संकल्प होना । योगी जो-जो भी संकल्प करे उसका पूर्ण होना ही यत्र कामावसायित्व कहलाता है, किन्तु ऐसा होने पर भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के सृष्टि नियम के विरुद्ध योगी कोई संकल्प नहीं करता । अतः ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध योगी कोई अपना संकल्प नहीं किया करता ।

यह योगियों का अष्ट सिद्ध ऐश्वर्य है जिसको प्राप्त करके योगी प्रायः सूक्ष्मतम बन सकता है। उसका प्रकृति पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। ऊपर के सूत्र में कहा गया है—

'कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च'

काया की सम्पत्ति क्या है? यह तो आगे इसके अगले सूत्र में भगवान पतञ्जलिदेव बतलायेंगे किन्तु पंच महाभूतों के धर्म योगी के रास्ते में रुकावट नहीं डालते। वह महत्वपूर्ण शक्ति से जो भी कुछ चाहे कर सकता है। जैसे — योगी के मन में विचार आया कि मैं पृथ्वी में प्रवेश करूँ तो पृथ्वी उसकी इस इच्छा को रोक नहीं सकती। पृथ्वी के कठोरतम भाग पाषाण आदि में भी योगी निर्विघ्न प्रवेश कर सकता है। जल का गीलापन उसको गीलापन नहीं कर सकता। अग्नि की उष्णता उसको जला नहीं सकती। परिणामी वायु उसको उड़ा नहीं सकती, अनावरण आकाश भी उसके आवृत होने में बाधा नहीं डालता। अनावृत आकाश में भी वह अपने रूप को ढँक सकता है। वह सिद्धों के लिए भी अदृश्य हो जाता है। इससे आगे के जिस सूत्र में भगवान पतञ्जलि देव योगी की काय-सम्पत् का वर्णन करते हैं वह इस प्रकार है:—

रूपलावण्यबलवज्र संहननत्वानि कायसंपद्।

इसी सूत्र पर व्यास जी भाष्य करते हैं—

दर्शनीयः कान्तिमान् अतिशयबलो वज्रसंहननश्चेति।

अर्थात् सुन्दरतम अतिशय कांतिमान होना अतिशय बल का धारण करना, वज्र के समान अभेद्य होना यह योगी के शरीर का ऐश्वर्य है। भूतजयी योगी इस महान ऐश्वर्य को प्राप्त करके सब प्रकार से बलशाली एवं कृत-कृत्य हो जाया करते हैं। किन्तु आवश्यकता है इस बात की कि योगी को संयम-बल पूर्णरूपेण प्राप्त हुआ हो। जिसकी आधार भित्ति सुदृढ़ है एवं अपने धारणा, ध्यान, समाधि के अभ्यास में सुदृढ़ता के साथ परिपक्व अभ्यास वाले बने चले जावें हों तो उनका संयम बल भी परिपक्व हो जाता जाता है और वे इस विपुल ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया करते हैं। —:—

जल के हिलने से उसमें पड़ता हुआ चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब भी हिलने लगता है, किन्तु अज्ञानी पुरुष ऐसा भ्रम करता है कि चन्द्रमा हिल रहा है। इसी प्रकार अहंकार, चीज एवं अन्य कर्मों को जो मन से सम्बन्धित है, भ्रमवश आत्मा से सम्बद्ध कर लिया जाता है।

— श्री रामकृष्ण परमहंस

सेवा से योगसिद्धि

श्री आचार्य चन्द्रहास शर्मा एम. ए.

साधना की सफलता अपने इष्ट की कृपा प्रसन्नता तथा उनके सन्तोष पर निर्भर करती है। इस चराचर में एक ही तत्व व्याप्त है। 'सर्वभूत हिते रताः' से इसी सिद्धांत की ओर निर्देश कर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को उपदेश दिया है। सभी प्राणियों में आत्मभाव का जितना विस्तार हो जायगा उतनी ही मात्रा में आत्मसिद्धि का विकास होता जायगा। योगयुक्त होने पर इसी स्थिति की परिणति होती है। साधक प्राणियों में अपने आत्म स्वरूप का ही दर्शन करता है तथा सभी प्राणियों को अपने अन्दर देखने लगता है। इससे सर्वत्र समदृष्टि हो जाती है। द्वेष, वैरभाव, हिंसा घृणा अपने आप हट जाते हैं। उस अवस्था में स्वतः ही अहिंसा की जीवन में प्रतिष्ठा हो जाती है। 'निज प्रभुमय देखहिं जगत, किहि सन करहिं विरोध' सर्वत्र प्रभु के तेज को व्याप्त देख लेने पर सबों में प्रीति हो जाती है। प्रीति वस्तुओं के गुण धर्म को बदल देती है। सामान्य स्थिति में जिन वस्तुओं और प्राणियों में दोष दिखाई पड़ते हैं प्रीति होने पर वे दोष गुणों में बदल जाते हैं। आत्मवेत्ता ऋषियों तथा योगियों ने समस्त विश्व को इसी आधार पर 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' कहा है। जब तक जीवन में योग सिद्धि नहीं आती तब तक सामाजिक एकता राष्ट्रीय एकता अथवा मानव सेवा केवल प्रलाप मात्र है। एकात्म भाव के विकास के लिए सेवा सबसे सरल साधन है।

सेवा से मेवा मिलती है इस में तनिक भी सन्देह नहीं है। साधक के लिए सेवा कर्मशुद्धि का काम करती है, साधक अपनी समस्त कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों तथा मन को सेवा में लगा देता है तो उससे इन्द्रियों और मन के संचित कर्मों के वासना का मल नष्ट हो जाते हैं। सेवा से तन की शुद्धि होती है। और ध्यान से मन की तथा दान से धन की शुद्धि होती है। जब साधक का तन मन धन सेवा में लग जाता है तो कर्मसाम्य की अवस्था आती है। इस तरह कर्मशुद्धि होकर कर्माशय शुद्ध हो जाता है। क्लेशों का मूल कर्माशय है, भगवान पतंजलि ने योगदर्शन में 'क्लेशमूलः कर्माशयः' इस सूत्र से कर्माशय के स्वरूप का निर्देश किया है। योगी लोग आसक्ति रहित होकर अपने मन आचरण और विवेक की

निवृत्ति के लिए सेवा करते हैं।

'योगिनः कर्म कुर्वन्ति
सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये'।

सभी प्रकार के कर्मों से आत्मशुद्धि नहीं होती। कर्म तो सभी करते हैं। कर्म एक लाचारी है तथा कर्म अनिवार्य भी है। जब तक मनुष्य में देहबुद्धि है तब तक वह शरीर रक्षा के लिए अर्थात् उदर पोषण के लिए व्यापार धन्धा या खेती बाड़ी करता है। वस्त्र मकान तथा सुरक्षा के अन्य उपाय करता रहता है और मकड़ी के जाले की तरह उसी में बंद होकर अपने अपने अमूल्य जीवन को नष्ट कर देता है। देहासक्ति के रहते कोई यदि कर्मत्याग या संन्यास की बात करता है तो वह पाखण्ड मात्र है। भगवान श्रीकृष्ण इसी सत्य का उद्घोष करते हैं—

'नहि देहभृता शक्यं
त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।'

देहधारी प्राणियों के लिए यह असम्भव है कि सभी प्रकार से कर्म करना छोड़ सके। यदि शारीरिक कर्म छोड़ भी दिये तो मन से संकल्प करता ही रहेगा। जैसे एक मौनी महात्मा के पास एक दूसरे महात्मा गये तो उन्होंने कागज पर लिखकर सामने कागज रख दिया। जिस पर लिखा था—'मैंने मौनव्रत ले रखा है।' आगन्तुक महात्मा ने कहा—'बोल कर कहने और लिखकर कहने में अधिक अन्तर नहीं है। वाणी का व्यापार दोनों ही तरह हुआ। एक में क्रिया के रूप में दूसरे में विचार के रूप में। गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया है कि—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य
य आस्ते मनसा स्मरन्
अहंकार विमूढात्मा
मिथ्याचारः स उच्यते।

जो कर्मेन्द्रियों के बाह्य व्यापार को रोक कर मन से विषयों का चिन्तन करता रहता है वह अहंकारी ढोंगी पाखण्डी तथा हीन बुद्धि है।

सिद्धावस्था प्राप्त कर लेने पर भी लोक-शिक्षा के लिए योगी लोग कर्मरत रहा करते हैं। देखने में ऐसा लगता है जैसे वे भी संसारी आसक्त पुरुषों की तरह ही पैसे की सम्भाल कर रखते हैं। उनमें प्रसन्न और खोने पर दुःखी होते हैं। पर यथार्थ में वे इस द्वन्द्वभाव से परे होते हैं। लोकोपकार, सामाजिकता तथा मर्यादा स्थापना के लिए किये गये उनके कर्म निष्काम होते हैं, शास्त्रों का आदेश है कि यज्ञ दान तथा तप सदा हर स्थिति में प्राणी को करने चाहिए साधनावस्था में इन कर्मों से आत्म शुद्धि होती है। सिद्धावस्था में इन कर्मों से लोक-जीवन की शुद्धि होती है—

जो सेवक अपने स्वामी की सच्ची निष्ठा से सेवा करता है वह स्वामी की नाक का बाल बन जाता है। सेवक सेवा के बल से मालिक का मालिक बन जाता है। सम्पत्ति का मालिक उसे ही समझा जाता है जिसमें सेवा भाव हो। लौकिक कार्यों में सेवा सिद्धिदात्री है उसी प्रकार पारमार्थिक स्थिति की सेवा श्रेष्ठ साधन है।

नित्य चेतन आत्मतत्व को प्राप्त करने के तीन साधन, गीता में बताये गये हैं—

'तद्विद्धि-प्रणिपातेन
परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं
ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः ॥

प्रथम साधन प्रणिपात है। आत्मसमर्पण से प्रभु पकड़ में आ जाते हैं दूसरा उपाय निरन्तर बोध पहचान करना है। जिसे परिप्रश्न शब्द से कहा गया है। बारम्बार प्रश्न पूछने से सत्यान्वेषण हो जाता है तीसरा शब्द है—'सेवा।' सेवा का दूसरा पर्याय भक्ति है। भक्ति शब्द का शब्दार्थ सेवा ही है भज् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर भक्ति शब्द बना है। भज् धातु का अर्थ सेवा है। सेवक भक्तियोग है। मन लगाकर श्रद्धा युक्त होकर सत्कार भाव से यदि सेवा की जाती है तो वह हृदय में आह्लाद उत्पन्न कर सतोगुण का विकास करती है तथा अहंकार को जलाती हुई नष्ट कर देती है। सेवा परायण जीवन अपने अर्थों में धार्मिक हो जाता है। सेवा से ईश्वर के सर्वव्यापक स्वरूप का अनुभव होने लगता है। साधक सर्वत्र अखण्ड चेतन सत्ता को सभी प्राणियों में देखा करता है।

'मैं सेवक सचराचर।
रूप स्वामि भगवन्त ।'

इस भावना से सेवापरायण साधक ओत-प्रोत हो जाता है। सेवा से ईश्वर प्रणिधान की प्राप्ति हो जाती है। सेवा धर्म अत्यन्त गूढ़ है जिसे विरला योगी ही जान पाता है। नीतिशास्त्र में कहा गया है कि—

'सेवा धर्मः परमगहनः ।'

सेवा धर्म अत्यन्त कठिन है। उसमें भी गुरुसेवा रहस्यपूर्ण साधना पद्धति है। जितने भाग्यशाली हैं वे सदैव श्री सर्वात्मना गुरुदेव चरण कमलों की सेवा करते रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने प्रभु की प्राप्ति का मुख्य साधन बतलाया है—

मोहि तें अधिक गुरहिं जिय जानी।
सकल भाव सेवहिं सनमानी ॥

गुरुदेव की आवश्यकता को बिना कहे समझकर आदर और श्रद्धा के साथ हर प्रकार

(शेष देखें पृष्ठ १४)

—: श्रेष्ठ दान और श्रेष्ठ दानी :—

सुमंगला देवी उपाध्याय, वाराणसी

राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ था, धनंजय ने अपने परम प्रिय सखा श्रीकृष्ण से जब वे एकान्त में विराजमान थे। प्रसंग उस समय का है जब राजसूय-यज्ञ सम्पूर्ण हो चुका था और धर्मराज युधिष्ठिर भूमण्डल के सम्राट अभिषिक्त हो चुके थे। महात्मा अर्जुन ने प्रश्न किया "माधव! श्रेष्ठतम दान क्या है?" प्रश्न करते समय अर्जुन अपनी गोद में श्यामसुन्दर का चरण लेकर सुकुमारता से दबा रहे थे।

भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र ने बहुत ही सीधा और सरल उत्तर दिया, "जिसकी पूर्ति अर्थी के लिये तत्काल आवश्यक हो।"

महात्मा धनंजय ने दूसरा प्रश्न किया "श्रेष्ठतम दानी कौन है?"

भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया "जो निसर्ग से—स्वभाव से, दानी हो, जैसे इस समय के श्रेष्ठतम दानी हैं, कर्ण।"

धनंजय को अपने प्रिय सखा श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से उदाहरण में कर्ण का नाम सुनकर क्षोभ हुआ। उन्होंने मन ही मन सोचना और चिन्तन करना आरम्भ किया कि क्या मेरे अग्रज धर्मराज ने दान देने में कभी कहीं प्रमाद किया है? धनंजय मन ही मन सोच रहे थे कि कर्ण में ऐसी क्या विशेषता है, जिस के कारण श्यामसुन्दर ने धर्मराज से कर्ण को श्रेष्ठ दानी बतलाया।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने धनंजय के इस मन के कौतूहल को जान लिया और उनके (श्रीकृष्ण के) प्रेरणा से आरम्भ हो गयी दोनों दानियों की परीक्षा। भगवान श्रीकृष्ण ने आदेश दिया कि धनंजय चलो, इस याचक के पीछे छिपकर चला जाय, वह किससे किस वस्तु की याचना करता है।

याचक सर्व प्रथम सम्राट धर्मराज के द्वार पर उपस्थित होता है, और याचना करता है कि 'सम्राट! आप की जय हो। हमें थोड़ा सा चन्दन काष्ठ चाहिए। मैं अपने हाथ से चन्दन काष्ठ की अग्नि पर भोजन बनाकर अपने आराध्य को अर्पित करने के पश्चात् ही भोजन का अन्न ग्रहण करता हूँ। आज मुझे अन्न-जल ग्रहण किये बिना सात दिन हो गये हैं, इसलिए चन्दन काष्ठ का प्रबन्ध किया जाय।' धर्मराज ने पूरी खोज करवाया परन्तु चन्दन काष्ठ कहीं नहीं मिला।

—: श्रेष्ठ दान और श्रेष्ठ दानी :—

सुमंगला देवी उपाध्याय, वाराणसी

यह विनय सस्नेह पूछा था, धनंजय ने अपने परम प्रिय सखा श्रीकृष्ण से जब वे एकान्त में विराजमान थे। प्रसंग उस समय का है जब राजसूय-यज्ञ सम्पूर्ण हो चुका था और धर्मराज युधिष्ठिर भूमण्डल के सम्राट उद्घोषित हो चुके थे। महात्मा अर्जुन ने प्रश्न किया "माधव! श्रेष्ठतम दान क्या है?" प्रश्न करते समय अर्जुन अपनी गोद में श्यामसुन्दर का चरण लेकर सुकुमारता से दबा रहे थे।

भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र ने बहुत ही सीधा और सरल उत्तर दिया, "जिसकी पूर्ति अर्थी के लिये तत्काल आवश्यक हो।"

महात्मा धनंजय ने दूसरा प्रश्न किया "श्रेष्ठतम दानी कौन है?"

भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया "जो निसर्ग से—स्वभाव से, दानी हो, जैसे इस समय के श्रेष्ठतम दानी हैं, कर्ण।"

धनंजय को अपने प्रिय सखा श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से उदाहरण में कर्ण का नाम सुनकर क्षोभ हुआ। उन्होंने मन ही मन सोचना और चिन्तन करना आरम्भ किया कि क्या मेरे अग्रज धर्मराज ने दान देने में कभी कहीं प्रमाद किया है? धनंजय मन ही मन सोच रहे थे कि कर्ण में ऐसी क्या विशेषता है, जिस के कारण श्यामसुन्दर ने धर्मराज से कर्ण को श्रेष्ठ दानी बतलाया।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने धनंजय के इस मन के कौतूहल को जान लिया और उनके (श्रीकृष्ण के) संकल्प से आरम्भ हो गयी दोनों दानियों की परीक्षा। भगवान श्रीकृष्ण ने आदेश दिया कि धनंजय चलो, इस याचक के पीछे छिपकर चला जाय, यह किससे किस वस्तु की याचना करता है।

याचक सर्व प्रथम सम्राट धर्मराज के द्वार पर उपस्थित होता है, और याचना करता है कि 'सम्राट! आप की जय हो। हमें थोड़ा सा चन्दन काष्ठ चाहिए। मैं अपने हाथ से चन्दन काष्ठ की अग्नि पर भोजन बनाकर अपने आराध्य को अर्पित करने के पश्चात् ही भोजन या जल ग्रहण करता हूँ। आज मुझे अन्न-जल ग्रहण किये बिना सात दिन हो गये हैं। कृपया चन्दन काष्ठ का प्रबन्ध किया जाय।' धर्मराज ने पूरी खोज करवाया परन्तु चन्दन काष्ठ कहीं नहीं मिला।

धर्मराज ने उत्तर दिया, "याचक ! इस समय वर्षा हो रही है। पूरे नगर में थोड़ा भी चन्दन उपलब्ध नहीं है।"

भूख के कारण उसका शरीर तिलमिला गया है और चन्दन काष्ठ न मिलने की उसकी आशा भी अब बिल्कुल कगार पर है। इसके पश्चात् वह पहुँचता है कर्ण के दरवाजे पर और क्रोध भरी वाणी में आवाज लगाता है कि "दरिद्र नहीं हूँ, नगर में मिल जाता तो क्रय कर सकता था। किन्तु अब तो उदार दाताओं के यहाँ से निराश होकर तुम्हारे पास आया हूँ। उपवास कर सकता हूँ परन्तु बिना चन्दन काष्ठ पर भोजन बनाकर अपने इष्ट को अर्पित किये अन्न-जल ग्रहण नहीं कर सकता।" उसने फिर स्पष्ट करते हुए कहा, "कर्ण ! मुझे थोड़ा-सा चन्दन काष्ठ चाहिये।"

कर्ण ने उत्तर दिया, "श्रीमन्, आप चन्दन काष्ठ अभी लीजिये।"

कर्ण ने बिना सोचे विचारे धनुष पर बाण चढ़ाया और अपने रत्न जटित चन्दन काष्ठ के मुख्य द्वार को गिरा दिया। सेवकों ने चन्दन काष्ठ एकत्र कर याचक को विनम्र भाव से अर्पित करते हुए प्रार्थना करते हुए कहा—"विप्र, क्या और कोई सेवा है?"

याचक का हृदय गद्गद् हो गया और उसने आशीर्वाद दिया, "महोदय ! आप के धर्म की वृद्धि हो।"

छिपे रूप से इस दृश्य को स्पष्ट देख रहे मधुसूदन ने धनंजय से कहा, क्या धर्मराज का मुख्य द्वार चन्दन का नहीं बना है? परन्तु यह चन्दन काष्ठ के रूप में दिये जा सकते हैं, यह तथ्य उनकी समझ में नहीं आया। योगेश्वर श्रीकृष्ण का उत्तर सुनकर धनंजय ने अपना सिर नीचा करते हुए यह स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया कि इस समय के श्रेष्ठतम दानी कर्ण ही है।

इस प्रकार श्यामसुन्दर ने श्रेष्ठ दान और श्रेष्ठ दानी के तथ्य समझाया। एक तथ्य और वह यह कि जब लीलामय श्रीकृष्ण ही कुछ करना चाहें तो उसे रोक कौन सकता है।

क्ष भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते थे—"हे अर्जुन ! अष्टसिद्धियों में से यदि एक भी सिद्धि तुम्हारे पास रहे तो मेरा जो परम भाव है, उसे तुम नहीं पा सकोगे।" अतएव, जो ठीक-ठीक भक्त और ज्ञानी हैं, उन्हें किसी प्रकार की सिद्धि की कामना नहीं करनी चाहिए।

—रामकृष्ण परमहंस

अभय से सत्त्व शुद्धि-

डा० श्री विजयसिंह, प्रवक्ता-गणित

अक्सर व्यक्ति को जीवन के किसी भी क्षेत्र में वांछित सफलता नहीं प्राप्त हुआ करती है। भय चित्त की कार्य कुशलता को सर्वाधिक हानि पहुँचाता है। पंच क्लेशों के अन्तर्गत अभिनिवेश यथार्थतः भय से ही उत्पन्न हुआ ऐसा दुःख है जिससे अच्छे अच्छे विद्वान एवम् विशिष्ट जन भी पीड़ित देखे जाते हैं। सारे भय की जननी, मृत्यु का भय है। आत्मा के शरीर को त्यागने का जो मन में भय होता है उसे ही अभिनिवेश कहा गया है। जीवन को प्राप्त है इसके खो जाने का महा-भय जो दूर योग में ही व्याप्त है। मात्र जिन्होंने योग द्वारा क्लेशों के स्वरूप को जानकर, सर्वथा उन्हें निर्मल कर आत्म स्थिति को प्राप्त किया है, उन्हें ही इस मृत्यु रूपी महा-भय से मुक्ति मिल पाती है। योग साधना में मनुष्य मृत्यु का साक्षात्कार सहज ही करता है। जीवात्मा शरीर में किस प्रकार से स्थित होता है तथा कैसे समय को प्राप्त कर छोड़ता है, इस रहस्य को योग साधक भली प्रकार समझता है। अतः योग परायण होने के कारण व अभयत्व को प्राप्त हो जाता है। भगवती गीता में भगवान जगदात्मा श्रीकृष्णचन्द्र जी ने बताया है—

> उत्क्रामन्तं स्थितं वापि
> भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
> विमूढा नानुपश्यन्ति
> पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः
> यतन्तो योगिनश्चैनं
> पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
> यतन्तोऽप्यकृतात्मानो
> नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥

अर्थात् शरीर से निकल जाने वाले को, अथवा गुणों से युक्त होकर उपभोग करने वाले को मूढ़ लोग नहीं जानते। ज्ञान चक्षु से देखने वाले लोग उस रहस्य को जानते-पहचानते हैं। इसी प्रकार प्रयत्नरत योगी शरीर में अवस्थित आत्मा को पहचानते हैं परन्तु वे जन लोग जिनकी बुद्धि सत्त्व मयी नहीं है वे प्रयत्न करके भी नहीं जान पाते।

वस्तुतः आध्यात्मिक पथ में अग्रसर होने के लिए स्वच्छन्द सत्त्व मय निर्भय चित्त की अपरिहार्यता असंदिग्ध है। क्योंकि भय

संयम अथवा पूर्णतः मनुष्य के अन्तःकरण मन बुद्धि चित्त को तमसा आच्छादित अहित बना देता है। अत तम रज का मानव पर प्रभाव 'प्रकाश स्थित क्रियाशील' अर्थात सत्व के अन्तःकरण में स्वाभाविक ज्योति, आनन्द, स्फूर्ति, शक्ति प्रकट होती है। तम से जड़ता, निद्रा, मूर्छा, भय स्वभावतः व्याप्त हो जाती है। रज मानव में क्रियाशीलता बहिर्मुखता उत्पन्न करता है। अतः चित्त में सत्व की पराकाष्ठा तभी स्थित हो सकती है। जब साधक अभयत्व को प्राप्त हो जाय। यह मानसिक अवधारणा साधक को दो ही अवस्था में प्राप्त हो सकता। प्रथम वह जो प्रभु में पूर्ण समर्पण भाव रखता हो, दूसरा साधक पूर्ण आस्तिक वृत्ति के साथ परम उत्साही भी हो। अन्यथा साधन पथ के अन्तराय उसे भय भीत कर पथ भ्रष्ट बना ही देते हैं। इसीलिए तो भगवान ने गीता के सोलहवें अध्याय में दैवी एवम् आसुरी सम्पदा की जहां बात करते हैं वहां दैवी सम्पदा का प्रधान गुण अभयत्व ही बताते हैं—

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञान-
योगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च
स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः
शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं
मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौच-
मद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपद दैवी
मभिजातस्य भारत॥

अर्थात् चित्त में निडरता, शुद्ध सात्विक वृत्ति, ज्ञान, योग व्यवस्थित बुद्धि से किया गया दान, यज्ञ, स्वाध्याय, तप के साथ साथ चित्त-शठता (चित्तशठता रहित निडरता दम्भ का धारण कर लेता है जो कि आसुरी प्रवृत्ति है) अतः अभयत्व के साथ चित्त शठता जिसमें हो वही साधना पथ में सफल होते हैं। अहिंसा सत्य अक्रूर, सब भूतों में दया, तृष्णा न रखना तेजस्विता, क्षमा धृति, शुद्धता, द्रोह न करना अति मान न रखना यह सभी गुण दैवी स्वभाव वाले व्यक्तियों के बताये गये हैं।

दुष्ट प्रकृति वाले मनुष्य निद्रा, भय, शोक चिन्ता को प्राप्त रहते हैं तथा प्रयास करने पर भी इनसे उन्हें मुक्ति नहीं मिलती

यया स्वप्नं भयं शोकं
विषादं मद मेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा
धृतिः सा पार्थ तामसी॥

भय की मनः स्थिति विचित्र होती है।

भय की सत्ता निराकार होकर भी प्रबल साकार सी भासित होती है। मोह अज्ञान ही इसका जनक है। निर्बल अन्तर्मन वाले व्यक्तियों पर भय भूत की तरह आरोहण कर लेता है। ऐसे व्यक्ति अनेक मानसिक विकृतियों से घिर जाया करते हैं। मानसिक रोगों का जनक भय ही है।

कुरुक्षेत्र में अर्जुन को युद्ध विमुखता जो महा मोह उत्पन्न हुआ उसके पीछे भी भय ही मूल कारण था। स्वयं अर्जुन ने स्वीकार किया है कि—

'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि
त्वां धर्मसम्मूढ चेताः'।

इस पर जगदात्मा जगद्गुरु भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्म तत्त्व का उप-देश किया—

'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं
प्रज्ञावादांश्च भाषसे'
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि
नैनं दहति पावकः।
चैनं क्लेदयन्त्यापो न
नशोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम
अक्लेद्योऽशोष्यम् एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुर
चलोऽयं सनातनः॥

आत्मा के स्वरूप का ज्ञान कराने के बाद तथा नाना प्रकार के योग पथों का स्वरूप बताने के पश्चात् अर्जुन को पूर्ण निर्भय बनाने हेतु स्वयम् परमात्मा ने अपने विराट स्वरूप को दिखाया। अर्जुन ने देखा कि हमारे संरक्षक प्रभु कौन हैं? सारी दिशायें समग्र रूप से जिस में व्याप्त है, करोड़ों सूर्यों की भांति जो प्रभासमान है, जिन्हें किसी भी तरह बुद्धि का विषय बताया ही नहीं जा सकता, सिद्ध गण, देवगण तथा नाना प्रबुद्ध योनियों के जीव जिनकी स्तुति अहर्निश कर रहे हैं, साथ साथ अजेय द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह तथा दोनों सेनाओं के महारथी उन प्रभु की महा कराल दाढ़ में बीभत्स रूप से पिसे जा रहे हैं? यह सब देखकर अर्जुन भयभीत हो गया। भगवान ने अपने सौम्य रूप का दर्शन कराकर तथा अभय वचनामृत से पूर्ण निर्भयता प्रदान कर अर्जुन को उस भया-वह के अगम्य समुद्र से निश्चिन्त पार उतार लिया। अतः अध्यात्म पथिकों के पाठकों को

अपनी सम्पूर्ण क्रियाविधि, सद्गुरु के श्रीचरणों में समर्पित कर देना चाहिए जिससे वह उपासना ही अभय को प्राप्त कर सात्विक मनः स्थिति में अपनी साधना का विस्तार पा सके।

जो क्रम से क्रम इतनी आत्म शक्ति अर्जित नहीं कर लेता कि वह मृत्यु की घड़ी को शान्ति से निर्वाहित कर सके तो अवश्य ही वह निम्न योनियों का भागी बन जाया करता है, मृत्यु काल में सम्पूर्ण जीवन में की गयी निर्भयता की साधना सत्व का संचार कर देता है। अतः ऐसा व्यक्ति ही उस घड़ी में अविचलित रहकर श्री प्रभु चरणों का चिन्तन करते हुए शरीर का त्याग करता है। जिसके फलस्वरूप वह सद्गति को प्राप्त होता है। इसके विपरीत जो मृत्यु काल में भय को प्राप्त होते हैं वे मरने के बाद सूकर, कूकर अथवा भूत, बेताल, पिशाच योनियों को प्राप्त होते हैं। आकस्मिक दुर्घटनाओं में मरने वाले व्यक्तियों का अन्तःकरण घटना की भयानकता से प्रभावित होकर तमोमयी हो उठता है अतः उसकी चिन्तना भी उस समय भय के तमो अणुओं से निर्मित अधम योनियों को प्राप्त करता है। इसके सर्वथा विपरीत युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया व्यक्ति रजस तत्व की प्रधानता से एकाग्र हुए मन के सूक्ष्म शरीर में ऊर्ध्व प्राणाग्नि के कारण स्वर्ग का भागी बन जाया करता है। भगवान ने स्वयं कहा है—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्

× × × ×

यदृच्छया चोपपन्नं
स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ
लभन्ते युद्धमीदृशम्॥

अर्थात् अर्जुन ऐसा युद्ध रूपी अवसर भाग्यवान क्षत्रियों को प्राप्त हुआ करता है जो मरने पर स्वर्ग को प्राप्त होते हैं तथा जीते हुए ऐश्वर्य भोग करते हैं। अतः हर व्यक्ति को साधना द्वारा आत्म साक्षात्कार की ओर अवश्य ही बढ़ना चाहिए जिससे अन्तःकरण को प्राप्त होकर शुद्ध शान्त चिन्तन युक्त उत्क्रमण का दर्शी बन सके—

यं यं वापि स्मरन्भावं
त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय
सदा तद्भावभावितः॥

---

* भगवान कल्पवृक्ष हैं। कल्पवृक्ष से जो कुछ प्रार्थना की जाय, वही प्राप्त होता है। अतः साधन भजन के द्वारा जब मन शुद्ध हो जाय, तब खूब सावधानी से कामनाओं का त्याग करना चाहिए। कामना त्याग से ही अभीष्ट की प्राप्ति होती है। —रामकृष्णपरमहंस

पूर्व प्रकाशित से आगे—

स्वरोदय-तत्व

ज्योतिष कलानिधि श्री शिवनाथ मेहरोत्रा

जितनी भी भारतीय विद्यायें हैं उनमें सबसे अधिक उपयोगी, सरल और लाभकारी विद्या स्वरोदय की ही है। अद्भुत बात यह है कि भारत की सभी विद्यायें विदेशी लोगों तक पहुँच गईं परन्तु यह स्वरोदय विद्या अभी तक विदेशी लोगों के स्पर्श में नहीं आई। सम्भवतः इसका कारण यह है कि यह विद्या योगियों ने अत्यन्त गोपनीय ढंग से सुरक्षित रखी। इसके ग्रन्थों का तत्वार्थ योगी लोग ही जानते और बताते हैं। 'शिव स्वरोदय' नाम से एक प्रसिद्ध ग्रन्थ स्वरोदय के विषय में प्राप्य है। इस पर जो कई टीकायें हुई हैं उनमें कई बातें या तो छिपा दी गई हैं अथवा उन्हें समझा नहीं गया है। 'शिव स्वरोदय' के अतिरिक्त इस विषय का सर्वोत्तम ग्रन्थरत्न 'नरपतिजय-चर्या-स्वरोदय' है। 'नरपतिजयचर्या' एक ग्रन्थरत्न है और देश की सुरक्षा, समृद्धि और लाभ की दृष्टि से जो ज्ञान उसमें भरा गया है वह सम्भवतः संसार की किसी भी भाषा में किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। परन्तु "नरपतिजयचर्याकार" ने उक्त ग्रन्थ में जितने विषयों को प्रस्तुत करने की है वे सब प्रकाशित ग्रन्थ में प्राप्य नहीं हैं। ऐसा लगता है प्रकाशित ग्रन्थ उसका दसवाँ भाग ही है जो लेखक ने मूल रूप में लिखा। फिर भी इसका अनुशीलन करने से अद्भुत रहस्यों का जो ज्ञान प्राप्त होता है वह संसार में किसी भी ग्रन्थरत्न में उपलब्ध नहीं है। कौन सा राष्ट्र किस अंग में दुर्बल है, कौन व्यक्ति कब दुर्बल होगा, कब सबल, कौन सी वस्तु कब घट जायगी, कब बढ़ जायगी, अतएव कौन वस्तु मंहगी हो जायगी किसमें तेजी आयेगी आदि ऐसे सैकड़ों अतिमहत्वपूर्ण एवं वैज्ञानिक प्रयोग 'नरपतिजयचर्या-स्वरोदय' में वर्णित किए गए हैं। बड़ा ही आश्चर्य है कि ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थरत्न को जो सम्मान और अन्वेषण-दृष्टि प्राप्त होनी थी वह इसे क्यों नहीं दी? यदि यह कहा जाय कि यह ग्रन्थ किसी बड़ी क्लिष्ट भाषा में है तो भी गलत होगा। ग्रन्थ की भाषा कोई प्रबल समस्या नहीं है। इसी प्रकार के दूसरे ग्रन्थरत्नों में "समरसार-स्वरोदयः" 'मुकुन्दविजय स्वरोदयः' आदि

के नाम उल्लेखनीय है। कबीरदास जी द्वारा लिखित एक हस्तलिखित स्वरोदय शास्त्र भी उपलब्ध है परन्तु इसकी विषय वस्तु विशेष रूप से योगाभ्यास द्वारा चमत्कारपूर्ण कार्यों के सम्पादन की ओर झुकी है। 'पवनविजय स्वरोदय' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जो हस्त लिखित पुस्तकों के संग्रहालयों में कहीं होने की आशा की जाती है, यद्यपि उसके स्फुट भाग अन्य ग्रन्थों में भरे हैं। स्वरोदय के सम्बन्ध में हिन्दी भाषा में सबसे उत्तम लेख 'कल्याण' के 'साधनांक' एवं 'योगांक' में प्रकाशित हुए हैं। इनकी विशेषता यह है कि वे सरल हिन्दी में प्रामाणिक विद्वानों के द्वारा लिखे हैं। स्वरोदय के सम्बन्ध में यदि इन दो लेखों का अध्ययन कर लिया जाय तो बहुत कुछ विदित हो जाता है। इनमें स्वामी निगमानन्द परमहंस देव द्वारा लिखा लेख एक योगी का स्वानुभव होने से आज के समय में प्राप्त सर्वाधिक दुर्लभ सामग्री है जो प्रत्येक योगाभ्यासी और अमृतत्वाकांक्षी के लिए पठनीय और मननीय है।

स्वरोदय सम्बन्धी ज्ञान दो प्रकार का है। एक का सम्बन्ध योगियों से है और दूसरे का राजाओं अर्थात् सांसारिक जनों से। शिव-स्वरोदय में जो ज्ञान वर्णित हुआ है वह योगियों के लिए है और नरपतिजयचर्या वर्णित ज्ञान भोगियों के लिए है। यही कारण है कि दोनों में कहीं-कहीं परस्पर एक दम भिन्न बातें कही गई हैं। इन्हें न समझने के कारण लोग इनको अप्रामाणिक कहने लगते हैं। परन्तु इन्हें समझ लेने पर यह दोष दूर हो जायगा। उदाहरण के तौर पर शिवस्वरोदय में कहा गया है—

शशांकं वारयेद् रात्रौ-
दिवा वार्यो भास्करम्।
इत्यभ्यासरतो नित्यः-
स योगी नात्र संशयः॥

रात्रि के समय चन्द्रस्वर का निवारण करे और दिन के समय सूर्य स्वर को रोके। इस प्रकार जो व्यक्ति सदा अभ्यास करता है उसके योगी होने में संशय नहीं है।

नरपतिजयचर्याकार कहते हैं—

शशांकंचारयेद्रात्रौ-
दिवाचार्यो दिवाकरः
इत्यभ्यासरतो नित्यं-
स योगी नात्र संशयः॥

स्पष्ट है कि श्लोक में ऊपर से ठीक उल्टी बात कही गई है। इस सम्बन्ध में स्पष्ट है कि योग मार्ग पर आरूढ़ योगी व्यक्ति के लिए शिवस्वरोदय का कथन सही हो सकता है परन्तु गृहस्थ योगी के लिए तो नरपति का सिद्धान्त ही सही है। इसमें कारण यह

है कि रातभर यदि चन्द्र स्वर चलाया जायगा तो रस तत्व का उदय होगा। आर्द्र भावों का उदय होगा। भक्ति, प्रेम, सांसारिक स्नेह आदि का तत्व विकसित होगा। परन्तु रात में सूर्य स्वर चलाने पर कठोरता, निर्लिप्तता और विषयों से वैराग्य का प्रभाव विकसित होगा। दिन में स्वर को बदल पाना केवल योगी ही कर सकता है क्योंकि उसे तो केवल योगसाधना का ही कार्य करना होता है परन्तु रात्रि में मनमाना स्वर तो कोई भी चला सकता है। दाहिनी करवट लेटे रहिए, बाँया स्वर चलता रहेगा।

उपरोक्त निष्कर्ष की प्राप्ति के लिए यदि श्री निगमानन्दजी परमहंसदेव ने अपना स्पष्ट मन्तव्य व्यक्त कर दिया होता तो सर्वसामान्य को बड़ी सुविधा हो जाती। परन्तु वैसा मन्तव्य उन्होंने व्यक्त नहीं किया। उन्होंने कई स्थानों पर उलटी ही बातें व्यक्त की हैं जो अविस्मरणीय है। एक स्थान पर श्री निगमानन्द जी ने लिखा है—

"सुषुम्ना के चलते समय किसी को जो शाप या वर दिया जाता है वह सफल होता है।"

शिव स्वरोदय में इससे ठीक विपरीत बात कही गई है। वहाँ कहा है—

सूर्येण वाह्यमानायां-
सुषुम्नायां मुहुर्मुहुः।
शापम् दद्यात् वरम्-
दद्यात्सर्वथैव तदन्यथा॥

जब सूर्य स्वर का प्रवाह सुषुम्ना में बार-बार हो रहा हो तब जो शाप या वर दिया जाय वह विपरीत होता है।

सम्भवतः इस वचन में ही यह भावना गुप्त रूप से व्यक्त की गई है कि सुषुम्ना के चलते में बार-बार यदि इड़ा नाड़ी बलवान दिखाई दे तो जो भी शाप या वर दिया जाय वह सफल होता है।

मैंने तो देखा है कि श्री निगमानन्द जी हंसराज का वचन सदा सत्य होता है। सुषुम्ना के प्रवाह में जो शब्द मुँह से निकलते हैं वे पत्थर की लकीर होते हैं। अतः उस समय में मुँह से अशुभ बात तो नहीं ही निकलनी चाहिए।

स्वरोदय शास्त्र मुख्य रूप से तीन नाड़ियों और पाँच तत्वों का आश्रय लेकर चलता है। परन्तु नरपतिजयचर्याकार ने शरीरस्थ स्वरोदय के अतिरिक्त कालपुरुष के शरीरस्थ विभिन्न राशियों व नक्षत्रों पर आधारित स्वरोदय शास्त्र का भी वर्णन किया है। नरपति जयचर्याकार ने गागर में सागर भरने का प्रयास किया है। उनका यथायोग्य अर्थ समझ लेने पर स्वरोदय की जानकारी हो

जाती है। यह विषय एक लघु लेख में लिखा जाना सम्भव नहीं। स्वरोदय शास्त्र को कमसे कम शब्दों में व्यक्त करना हो तो तीन प्रमुख नाड़ियाँ इस प्रकार हैं—

१. वाम नाड़ी—इड़ा जिसमें चंद्रमा प्रवाहित होते हैं। यह नाड़ी चलने से शुभ प्रभावों की और सौम्यता की वृद्धि होती है। सौम्य कर्मों में यह प्रशस्त है।

२. दक्षिण नाड़ी—पिंगला जिसमें सूर्य प्रवाहित होते हैं। यह नाड़ी चलने से वीर्य, क्रूरता पूर्वोचित गुणों की वृद्धि होती है। परिश्रम के कार्यों को करते समय यह विशेष सिद्धि प्रदान करती है।

३. सुषुम्ना नाड़ी—जो वाम एवं दक्षिण दोनों नाड़ियों का प्रवाह एक साथ देती है। इसमें स्वयं शम्भु का निवास है। अतः इससे योगाभ्यास और सिद्धि की प्राप्ति होती है ध्यानाभ्यास तभी सफल होता जब सुषुम्ना नाड़ी का उदय हो। प्रातः ध्यानाभ्यास के लिए बैठने पर सुषुम्ना का उदय करने की दृष्टि से ही प्राणायाम किया जाता है। प्राणायाम से के सुषुम्ना प्राप्त होने पर ही ध्यान में स्थिति सम्भव होती है। इसका कारण यही है कि इसी सुषुम्ना के प्रवाहित होने पर वज्रिणी नाड़ी पकड़ में आती है। वज्रिणी की स्थिति सुषुम्ना नाड़ी के ही गर्भ में है। वज्रिणी के मध्यभाग में चित्रिणी नाड़ी है। उस में जब प्राण प्रविष्ट होता है तब चित्र देखने की अर्थात् ध्यान करने की स्वाभाविक शक्ति हाथ लग जाती है। इस चित्रिणी के बीच में ब्रह्म नाड़ी है। ब्रह्म नाड़ी में प्राण प्रविष्ट होने पर ध्यान की स्थिति परिपुष्ट होकर श्वासप्रश्वास की जानकारी का आनन्द सुलभ होता है। इस प्रकार स्वरोदय का तत्वज्ञान ध्यान की दिशा में एक महत्पूर्ण उपलब्धि है।

—×—

❁ भय कब होता है? ❁

छोटा बच्चा जब तक सर्वथा अबोध है, तब तक उसे चाहे पालने में लिटा दें अथवा खाट पर सुला दें वह निर्भय है। परन्तु जब बालक कुछ समझदार होता है तब वह अकेला अन्धेरे में नहीं सोता, भय खाता है परन्तु उसे इस बात का पता नहीं कि किस बात का भय है? यदि उसे अकेला सुला दिया जावे, वह रोता है यह संस्कार है कि अन्धकार अज्ञात मनुष्य के लिये सब से महान भयंकर है।

—श्री महात्मा प्रभु आश्रित

पूर्व प्रकाशित से आगे—

योगीराज श्री मुलखराज जी महाराज

पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी द्वारा

पिशाच की निवृत्तिः—

सत्संग का प्रवाह बराबर इसी प्रकार चलता रहा। एक रोज सत्संग में एक देवी रोती और चिल्लाती हुई आई। श्री प्रभुजी ने उससे कारण पूछा तो उसने बतलाया कि कई महीने से मेरे पतिदेव को कोई अधोगत आत्मा लगा है वह उसको बड़ा दुःख देता है। मेरे पतिदेव हमेशा पागल की तरह से रहते हैं उनका काफी उपचार कराया है किन्तु कोई शांति नहीं होती। श्री प्रभुजी ने श्री मुलखराज जी की ओर इशारा करते हुए कहा—बेटा तुम अपने गले की कमीज उतार करके इसको दे दो। यह जाकर अपने पति को पहना देगी तो सब व्याधि शांत हो जायगी, और फिर इसको यह पिशाच नहीं सतावेगा। श्रीमुलखराज ने अपने गले की कमीज उतारके उस देवी को दे दी। उसने उसको हाथ में लेकर घर जाकर के वह कमीज अपने पति के शरीर पर डाल दी। कमीज के सिर पर डालते ही उसका पति बेहोश होकर गिर गया।

लगभग एक घण्टे के बाद होशमें होकर जागा तो वह बिल्कुल स्वस्थ था। उसको किसी प्रकार की कोई तकलीफ न रही थी। श्री प्रभुजी की आज्ञानुसार श्री मुलखराज की वह उतारी कमीज उस देवी ने अपने पति को पहनाये रखी जिससे उसके पति की सभी प्रकार की बाधा कट गयी। दूसरे दिन श्री प्रभुजी के चरणों में आकर के उस देवी ने प्रार्थना की कि प्रभो! मेरा पति अब बिल्कुल ठीक है। आपकी कृपा से उसके सब संकट दूर हो गये हैं।

मंत्रोपचार करने वाले ब्राह्मण पर विपरीत प्रभाव—

श्रीमुलखराजजी के मन में तीव्र वैराग्य का प्रवाह हर समय चलता ही रहता था। वह यह चाहते थे कि किसी निर्जन वन में जाकर एकान्त वास करें। उनके मन के यह भाव उनके घर वालों पर भी प्रकट हो गये थे। श्री मुलखराज जी के इन भावों से घर वाले हर समय चिंतित रहते थे और वह यह चाहते थे कि एन केनप्रकारेण श्री मुलखराज

भी वन न जायें और घर में रहकर ही अपना व्यवसाय कार्य करते रहें। इसी कारण को मद्दे नजर रखकर श्री मुलखराज जी का छोटा भाई किसी चमत्कारिक ब्राह्मण से जा कर मिला और प्रार्थना की कि महाराज आप कोई ऐसा उपाय कर दीजिए, जिससे मेरे बड़े भाई वन में जाने का विचार छोड़ दें।'

ब्राह्मण ने कहा अच्छा यदि ऐसा विचार है तो अपने भाई का कोई वस्त्र ले आओ उसमें हमारे गाँठ लगाने पर उस वस्त्र को तुम जहाँ जाकर रखोगे उसके पास ही तुम्हारे भाई आकर बैठ जावेंगे तब तुम अपने भाई से प्रतिज्ञा करा लेना कि वह वन को नहीं जावेंगे। श्री मुलखराज जी के छोटे भाई ने यही सब कार्य किया। वस्त्र की गाँठ लगवा कर उसे घर में जाकर रख दिया। किन्तु श्री मुलखराज जी पर उस का कोई प्रभाव न पड़ा। दूसरे दिन श्री मुलखराज जी का भाई पुनः उस ब्राह्मण के पास गया तो जाकर क्या देखा कि वह ब्राह्मण दुःख के मारे बिल-बिला रहा है। जिस समय मुलखराज जी के भाई ने उस ब्राह्मण से पूछा कि भाई क्या बात है, तो उस ब्राह्मण ने जवाब दिया कि कल जो वस्त्र गांठ लगाकर तुम ले गये थे उसे जल्दी से जाकर ले आओ। उस वस्त्र के द्वारा जिसका तुमने उच्चाटन कराया है उस पर तो किसी पूर्ण शक्तिमान का हाथ है। उस पर कोई जाप मन्त्र नहीं चल सकते। जब तक मैं अपने हाथों उन गाँठों को खोल नहीं दूँगा तब तक मेरी यही दुर्दशा रहेगी और मृत्यु भी हो सकती है।

इसलिए जल्दी जाकर वह वस्त्र मुझे दे दो ताकि मैं मौत से बच जाऊँ या जल्दी तुम्हीं उसकी गाँठ खोल दो तभी मेरा कष्ट दूर होगा। श्री मुलखराज जी के भाई ने ब्राह्मण पर दया करते हुए जल्दी जल्दी जा कर उस वस्त्र की गाँठ खोल दी। परिणाम स्वरूप जब दोबारा जाकर देखा तो वह ब्राह्मण बिल्कुल ठीक था। दुबारा जाने पर ब्राह्मण ने श्री मुलखराज के भाई से कहा कि अपने भाई पर किसी से कोई उच्चाटन आदि बिल्कुल न कराना अन्यथा करने वालों की भी यही दशा होगी जो इस समय हमारी हुई थी।

श्री प्रभुजी की काश्मीर यात्रा—

श्री प्रभुजी ने जनकार्य एक बार काश्मीर जाने का विचार किया और संकल्प करते ही दो एक दिन बाद ही काश्मीर यात्रा पर चल पड़े। इस यात्रा में श्री प्रभुजी ने श्री मुलखराज जी को भी अपने साथ ले लिया था। काश्मीर यात्रा को जाते हुए श्री प्रभुजी कुछ दिन शहर रावलपिंडी में ठहरे वहाँ पर बहुत से जिज्ञासु लोग अपनी भावनाओं को लेकर श्री प्रभुजी के चरणों में आते। लोगों ने अनेक

प्रकार से लौकिक और पारलौकिक लाभ उठाये। कुछ दिन रावलपिंडी रहने के बाद श्री प्रभुजी श्रीनगर चले गये। श्रीनगर में भी स्वभावतः ही सत्संग चालू रहा।

श्री प्रभुजी साध्यासाध्य रोगों की कष्ट निवृत्ति के लिए प्रातःकाल १०बजे से १२-१बजे तक योग साधन के द्वारा उपचार कार्य करते थे और बाद में दोपहर को सत्संग आदि का कार्य चलता था। कुछ दिन सत्संग चलने के बाद उस शहर का थाना दरोगा बाबू करम चन्द्र नाम के सत्संग में आने लगे। धीरे धीरे इनके मन में प्रेम की वृद्धि हुई। सत्संग में आने से नित्य श्री प्रभुजी की चमत्कारिक घटनायें सुनते रहते थे किन्तु वृत्ति बहिर्मुखी रहने के कारण इनको पूरी पूरी आस्था नहीं बन पाती थी।

इसलिए वह यह चाहते थे कि किसी ध्यानाभ्यासी सत्संगी साधक से बातचीत करें। इसीलिए एक रोज वह अपने तांगे में एक सैक सत्संगी को अपने साथ ले गये थे। जो श्रीप्रभुजी के चरणारविन्द में काफी दिनों से दीक्षित था इसकी ध्यान स्थिति अच्छी चल रही थी तांगे में साथ ले जाकर उससे ध्यान सम्बन्धी बातचीत करते रहे। उनकी संशय निवृत्त करने के बाद उन्होंने उसको तांगे से नीचे उतार दिया और कह दिया कि अब आप बड़ी खुशी से अपने स्थान पर जा सकते हैं। ऐसा करने में उस ध्यानी भक्त सत्संगी के मन में कुछ क्षोभ पैदा हुआ और दरोगा के प्रति अशुभ भावनायें मन में घुमड़ने लगीं। यदि उन भावनाओं पर कन्ट्रोल न किया जाता तो एक संकटापात पैदा हो जाता। ऐसा करने से बहुत लोगों की हानि थी। इसलिए श्री प्रभुजी ने उस ध्यानी भक्त की बढ़ी हुई मानस शक्ति को कम कर दिया जिससे कि किसी को हानि न हो सके। किन्तु उसको यह अच्छा नहीं लगा। और भी पास में बैठने वाले सत्संगी यह सोच रहे थे कि इसकी बढ़ी हुई स्थिति आज कमजोर दिखलाई दे रही है इसलिए यह उदासीन व चिन्तित दिखलाई दे रहा है।

जिस समय वह ध्यानी भक्त श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों में लौटकर आया तो श्री प्रभुजी ने उसको समझाया कि एकाग्र मन वाला व्यक्ति जिसके लिए जो भी अच्छा या बुरा सोचता है वह ही जाया करता है। इसलिए तुम लोगों को मन में कोई कुसंकल्प नहीं करना चाहिये जिससे दूसरे के होते हुए कामों में कोई विघ्न बाधा न हो। तुम्हें भी ऐसा ही होना चाहिये। इसलिये आज से आगे तुम अपने मन की ताकत को सँभाल कर रखा करो, न किसी से ईर्ष्या करनी चाहिए न द्वेष करना चाहिये न राग करना चाहिये। जो लोग ईर्ष्या द्वेष आदि के चक्कर में पड़े रहते हैं उन लोगों के अन्दर पूरी शक्ति का उत्थान

नहीं होता। यत्किंचित शक्ति बनती भी है तो वह रस इत्यादि द्वारा निकल जाती है। इसलिये संभालकर अपना निर्वाह करो। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी के पूर्ण कृपा भाव को देख कर के जेल दरोगा करमचन्द के मन में पूर्ण श्रद्धा पैदा हुई और श्री प्रभुजी से प्रार्थना कर के उसने योग की भी दीक्षा ग्रहण कर ली। इसी प्रकार बराबर सत्संग चलता रहा।

समय-समय पर सत्संगी लोग प्रभुजी से बाहर चलने के लिए प्रार्थना किया करते थे। एक रोज जेल दरोगा करमचन्द ने भी यह प्रार्थना की कि प्रभो! आप कश्मीर आये हैं कहीं भ्रमण करने के लिए पधारें। यदि आप मेरे साथ चलें तो मैं यहां की जेल दिखाऊँ। और कैदियों के हाथ का बना हुआ सामान दिखलाऊँ। श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया कि तुम्हारे साथ जेल देखने चल सकते हैं यदि तुम वचनानुसार जिनको कहें उनको छोड़ दो। दरोगा करमचन्द ने प्रार्थना की कि प्रभो! छोड़ना तो मेरे आधीन नहीं है। किन्तु उनको सब प्रकार की सुविधा दी जा सकती है। कुछ भी हो प्रार्थना करने पर भी प्रभुजी उन लोगों के साथ नहीं गये और श्री मुलखराज जी को उनके साथ भेज दिया। श्री मुलखराज जी नित्य ध्यानावस्था में देखते थे कि श्री प्रभुजी एक मुसलमान पीर को सूक्ष्म शरीर से उसी दिन से अपनी गोद में रख रहे थे जिस दिन से वे श्रीनगर आये थे। श्री मुलखराज जी करमचन्द दरोगा के साथ भ्रमण करने जा रहे, उन्होंने पहले अपनी जेल दिखलाई, कैदियों के बने हुए सामान दिखाये। जेल के सब भाग देखकर के जिस समय वह जेल के चौक में पहुंचे तो उन्होंने देखा कि एक मुसलमान पीर उल्टा मुँह किये हुए पड़ा है।

श्री मुलखराज ने पहचाना—उसी फकीर के सूक्ष्म शरीर को श्री प्रभुजी जब से श्रीनगर आये थे, अपनी गोद में उठाये रखे हुए थे। श्री मुलखराज जी ने उस फकीर को जगाया और जब वह जगा तो उससे पूछा—क्यों श्री प्रभुजी के चरण कमलों से लिपटे हो। उसने कहा हाँ वह परवरदिगार एक बार यहाँ आये थे और दुबारा आने का वचन दे गये थे अब फिर आये हैं और मुझे गोद में उठा लिया है। कुछ और भी पड़े हैं और उनकी राह देख रहे हैं। श्री मुलखराज जी उस फकीर के वचनों को सुनकर बड़े आश्चर्यित हुए व लौटकर श्री प्रभुजी के चरणों में निवेदन किया। प्रभुजी ने कहा हाँ मेरा यह पीर फकीर है उसका कुछ भजन शेष था वह इन दिनों में कर दिया गया है। अब वह यहाँ नहीं रहेगा आगे चला जायेगा। श्री प्रभुजी ने उसको सूक्ष्म में हुक्म दिया—"फकीर तुम जहाँ से आये वहीं चले जाओ

सभी लोगों ने आश्चर्य से देखा कि वह मुसलमान फकीर वहां आगे नहीं दिखलाई दिया।

उन्मत्तों की तरह पड़े हुए योगी को आदेश

दूसरे दिन श्री प्रभुजी ने स्वयं आदेश दिया कि आज हम भ्रमण करने चलेंगे। श्री प्रभुजी का आदेश पाते ही सब तैयार होगये। थोड़ी दूर चलने पर श्री प्रभुजी ने श्री मुलखराज जी को आज्ञा दी कि बेटा तुम हमसे कुछ आगे चलो और देखते चलो। जो कोई छिपे हुए लिबास में तेजस्वी साधु दिखाई दे उस की तुम पहले से हमारे आने की सूचना दे देना। श्री प्रभुजी का आदेश पाकर के श्री मुलखराज जी ने उसका उसी प्रकार पालन किया व स्वयं आगे-आगे चलने लगे। थोड़ी दूर चलने पर गन्दे नाले के किनारे पर मलिन वेश में पड़े हुए एक तेजस्वी महात्मा को देखा जो तेज से झिलमिला रहा था। उसको इतना महान तेजस्वी देखकर सूक्ष्म शरीर से मन ही मन कहा है! तेजस्वी महात्मा श्री प्रभुजी आ रहे हैं।

यह आवाज सुनते ही वह कीच में लिपटा हुआ साधु उठकर खड़ा हो गया और हाथ जोड़कर कहने लगा हां आ रहे हैं, वे मेरे पिता आ रहे हैं। इतनी ही देर में स्वयं श्री प्रभुजी आ पहुंचे। श्री प्रभुजी को आया देखकर वह महात्मा उठा और भागकर दण्डवत् प्रणाम किया। श्री प्रभुजी ने उसको उठा करके कंठ से लगा लिया और उसको आज्ञा दी कि बेटा तुम यहां से उठ जाओ और पहाड़ पर चढ़ जाओ। श्री प्रभुजी का आदेश पाते ही वह तेजस्वी किन्तु मलिन वेश में छिपा हुआ साधु तत्काल पहाड़ पर चढ़ गया और फिर उसका भी पता न चला कि वह कहां गया।

'पागल के वेश में योगी'

दूसरे दिन फिर श्री प्रभुजी परम् प्रसन्न होकर के पागलखाने की ओर ही भ्रमण करने चले। जिस समय पागलखाने में पागलों को देख रहे थे, एक उन्मत्त पागल ने भीतर से ही दण्डवत् प्रणाम करना प्रारम्भ किया। साथ के लोगों ने श्री प्रभुजी से विनम्र प्रार्थना की और पूछा कि हे प्रभो! यह कौन है जो पागल होते हुए भी आपको साष्टांग प्रणाम कर रहा है? श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया—यह पागल नहीं है किन्तु पागल के वेश में छुपा हुआ एक साधु है। यह साधु कमाई वाला है, इसी आधार पर बार-बार हमें नमस्कार कर रहा है। पागल के वेश में छुपे हुए उस योगी को आदेश दिया—बेटा अब तुम यहां से निकल जाओगे, तुम यहां से जाकर कहीं जंगल में एकान्त वास करना। श्री प्रभुजी की आज्ञा को सभी व्यक्तियों की

तरह से स्वीकार किया और कहा कि प्रभो ! आपका आदेश यदि इस प्रकार का है तो मैं अवश्य यहां नहीं रहूँगा।

श्री प्रभुजी ने अधिकारी लोगों से कह करके उनको भी यहां से निकलवा दिया। इसी प्रकार कुछ समय तक श्री प्रभुजी काश्मीर के रमणीक प्रदेश को देखते रहे। श्री मुलखराज जी महाराज की धर्मपत्नी का देहावसान भी उसी काश्मीर के भ्रमण काल में हुआ। जिनको दुर फिर भी जिस प्रकार कि मृत्यु समय पर उनको स्मरण करते रहो उनको पहले से ही यह ज्ञात हुआ था कि अब यह शरीर छोड़ रही हैं किन्तु मर्यादापूर्वक रहे। जिस समय घर वालों की ओर से उन को यह सूचना मिली तो देवी के मृत्यु पश्चात कर्म करने के लिये श्री प्रभुजी ने श्री मुलखराज जी को पहले से पहले अमृतसर भेज दिया।

श्री मुलखराज जी ने अमृतसर जाकर के देहावसान के बाद के सब कर्म कराये व हुए समय व्यानस्थ रहने लगे। उनकी धर्मपत्नी जी की सद्‌गति हुई वह पीछे की गाथा में विस्तृत वर्णन के साथ लिख दी गई है। कुछ दिन के काश्मीर भ्रमण के बाद श्री प्रभुजी अमृतसर चले आये। श्री प्रभुजी के अमृतसर लौट आने के बाद श्री मुलखराज जी ने फिर से अपनी साधना की दृढ़ता पूर्वक करना आरम्भ कर दिया। कुछ समय में इसी प्रकार की साधना करते रहे। फिर कुछ समय बाद लगभग सन् १९३० के शुरू में श्री प्रभुजी ने इनको प्रचार कार्य में उतार दिया और श्री प्रभुजी के आदेशानुसार यह प्रचार कार्य करने लगे।

श्री मुलखराज जी को लाहौर में
—:योग प्रचारार्थ भेजना:—

लगभग सन् १९२९ में श्री प्रभुजी ने श्री मुलखराज जी को आज्ञा दी कि—बेटा अब तुम लोकहित के लिये अपनी आंखें खोलो। तुम और गोपालानन्द दोनों भाई जाकर के लाहौर में योग प्रचार प्रारम्भ कर दो।

—लाहौर में योग प्रचार—

श्री प्रभुजी के आदेश को पाकर श्री मुलखराज जी महाराज व भाई श्री ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी ने लाहौर जाकर योग प्रचार शुरू कर दिया। इन दोनों ने पहले-पहले श्री सत्यनारायण के मन्दिर में जाकर के योग प्रचार आरम्भ कर दिया। श्री सत्यनारायण के मन्दिर में जाकर इन्होंने योग प्रचार के कार्यक्रम बनाये। प्रातः काल बारह बजे से लेकर ग्यारह बजे तक साध्य-असाध्य सभी प्रकार के रोगों की योगसाधनों द्वारा बड़ी सरलता से चिकित्सा करनी शुरू किया। बहुत थोड़े समय में ही काफी मात्रा में प्रचार बढ़ गया। प्रातः

काल चिकित्सा कार्य होता था। और सायंकाल हरिनाम संकीर्तन योग के रूप से करना प्रारम्भ कराया गया। और बाद दोपहर के कार्यक्रम में तीन से पाँच बजे तक भाषणों का कार्य आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे वह काफी बढ़ता गया और आश्रम में कई सौ आदमियों का यातायात बना रहने लग गया। कुछ समय बाद लाहौर से ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी को छोड़कर के श्री मुलखराजजी महाराज अमृतसर चले आये।

इन्होंने अमृतसर में योग प्रचार आरम्भ किया और श्री गोपालानन्द जी ने लाहौर में, अमृतसर में आकर के इन्होंने लोगों को ब्रह्मचर्य साधन कराने आरम्भ किये। जिसके फलस्वरूप बड़े-बड़े असाध्य और कष्ट साध्य मरीज आश्रम में आने पर ठीक हो गये। चिकित्सा के अतिरिक्त एक व्यायामशाला आसन क्लास चलाई जिसमें बहुत से युवक लड़कों ने प्रवेश करके लाभ उठाया। आसन क्लास का इन्चार्ज श्री विद्याप्रकाश जी को बनाया। भाई विद्याप्रकाश जी ने अमृतसर के युवक मण्डल में काफी प्रचार किया और हठ योग की कठिन-कठिन साधनायें कीं। यह सब कार्य अमृतसर में श्री मुलखराज जी द्वारा और लाहौर में ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी के द्वारा अनवरत चलता रहा। श्री आनन्दकन्द परम् योग योगेश्वर सद्गुरुदेव प्रभु श्री रामलाल जी महाराज की अध्यक्षता में काफी जगह योग प्रचार का कार्य होता रहा। किन्तु सन् १९३८ में श्री प्रभुजी की लीला अवसान के बाद सारी जिम्मेदारी श्री मुलखराज जी के कन्धों पर आ पड़ी और उन्होंने उत्साह के साथ इस कार्य भार को सँभाला। श्री प्रभुजी की लीला अवसान के बाद सभी भाई बहन इधर-उधर भटक गये थे।

उनके मन में यह आस्था बन गई कि अब हम निःसहाय बन गये हैं किन्तु ऐसी बात नहीं थी। श्री मुलखराज जी ने श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों से प्राप्त की हुई योग शक्ति के द्वारा निःसहाय आशाहीन भाई बहनों को उत्साहहीन देखकर उन सबका उत्साह बढ़ाया। और सभी को पुनः शक्ति दे करके दिव्यानुभूति कराई।

जिस समय पंजाब व यू०पी० के बहन-भाइयों ने यह सुना कि श्री मुलखराज जी ने यह कार्य भार सँभाल लिया है तो वह उत्साह के साथ आश्रम आने जाने लगे। और उनको भी समय-समय पर अपने स्थान पर बुलाने लगे। सन् १९३८ के बाद कुछ समय तक लगभग ऐसा मौका रहा जिसमें मुलखराज जी अधिकतर अमृतसर में ही निवास करते रहे उसके बाद दूसरे प्रान्तों का भी प्रचार प्रारम्भ हुआ।

अन्यान्य प्रान्तों में भ्रमण से पहले सन्

१९४१ में श्री मुलखराज जी महाराज यू०पी० में चांदपुर नामक शहर में जिला बिजनौर में गये। और उनके वहां जाने पर कई प्रकार की विलक्षण घटनायें घटीं। जो बहन-भाई योग से निराश होकर मन को पीछे हटा चुके थे उनको पुनः शक्तिपात करके उनकी भक्ति का उत्थान किया। और कितनों ही को भावावेश समाधियां महीनों तक पहुँची। कितनी ही असाध्य बीमारियां उनके मन के संकल्प से दूर हो गईं। कितने ही गृहस्थ उनके मुख से वरदान पाकर के सन्तान वाले बन गये। आज भी चांदपुर वासियों के मन में उनका गौरव प्रभाव कूट-कूटकर भरा हुआ है। लाला हरस्वरूप, चण्डीप्रसाद व रघुनन्दन प्रसाद आदि पवित्र अग्रवाल जैन घराने उनकी कृपाओं को भली प्रकार जानते हैं। सन् १९४९ में मेरे छोटे गुरु भाई सोमिराज मुंशिह जी तो श्री मुलखराज जी को पूर्ण आग्रह के साथ दक्षिण ले गये और वहां पर मद्रास प्रान्त के प्रमुख शहरों में उनके भाषण कराये। कई-कई सौ व्यक्तियों को एक-एक साथ शक्तिपात दीक्षायें दिलाईं। फलस्वरूप उन लोगों ने भी श्री मुलखराज जी के बहुत बड़े अनुग्रह को प्राप्त किया। कितने ही जीवन निराश रोगी उनके प्रसाद मात्र देने से ठीक हो गये। उस प्रान्त की धनी सरस्वती आदि अब भी उनके परम भक्तों में से हैं जो उनके गुणों का हर समय चिन्तन करते रहते हैं।

श्री मुलखराज जी के जीवन में बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि वह सारे जीवन कर्तव्य परायण रहे और फल में आसक्ति रहित रहे। यह उन्होंने कभी भी विचार नहीं किया कि इसका परिणाम क्या रहेगा। उनके जीवन में सबसे बड़ी बात महत्व की यही रही कि सभी काम उन्होंने कर्तव्य बुद्धि से किये और मन को हर समय श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों में समर्पित रक्खा। २ नवम्बर सन् १९६० में योगाभ्यास आश्रम कनखल में अपने नश्वर देह का त्याग करके विदेह हो गये और मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त किया। श्री मुलखराज जी महाराज के बताये कदम पर चलने वाला हर व्यक्ति अवश्य ही अपने आपको कृतकृत्य कर सकता है। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी की परम करुणा से श्री मुलखराज जी महाराज के जीवन की पवित्र घटनाओं का जितना मुझे स्मरण आया और जो जो उन्हीं के द्वारा प्राप्त की हुई कथाओं से जानकारी हो सका उसको लिखने का प्रयत्न किया है जिससे उनकी पवित्र जीवन कथायें जन साधारण को योग मार्ग की ओर अग्रसर कर सकें।

पूर्वप्रकाशित से आगे—

[जाबालदर्शनोपनिषद् में वर्णित-अष्टाङ्ग योग]

धारणा-ध्यान-समाधि

श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

इससे पूर्व प्रकाशित लेखों में योग के पाँच बहिरंग अंगों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार का वर्णन किया गया था। प्रस्तुत लेख में योग के अन्तरंग अंग—धारणा, ध्यान एवं समाधि का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है।

इन तीनों अंगों में धारणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि बिना धारणा के ध्यान और समाधि सिद्ध नहीं हो सकते। धारणा क्या है, इस सम्बन्ध में महर्षि पतंजलिदेवजी महाराज ने लिखा है—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा

अर्थात् नाभिचक्र, हृदयकमल, आज्ञाचक्र आदि अपने शरीर के अन्दर स्थित चक्रों में अथवा आकाश, सूर्य, चन्द्रमा या किसी मूर्ति में चित्त की वृत्ति को ठहराने का नाम धारणा है। जाबाल दर्शनोपनिषद में धारणा का वर्णन करते हुए महायोगी दत्तात्रेय जी महाराज कहते हैं—

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि
धारणाः पञ्च सुव्रत ।
देहमध्यगते व्योम्नि
बाह्याकाशं तु धारयेत् ॥
प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने
चाग्निमौदरे ।
तोयं तोयांशके भूमिं
भूमिभागे महामुने ॥
ह य व र लकाराख्यं
मन्त्रमुच्चारयेत्क्रमात् ।
धारणैषा परा प्रोक्ता
सर्वपापविशोधिनी ॥

हे मुने! अब मैं तुम्हारे प्रति पञ्चधारणाओं के सम्बन्ध में कहता हूँ। अपने देह में जो आकाश स्थित है उसमें बाह्य आकाश की धारणा करनी चाहिए। इसी प्रकार प्राण में बाह्य पवन की, जठराग्नि में बाह्य अग्नि की, देह में स्थित जलांश में बाह्य जल तथा पार्थिव भाग में सम्पूर्ण पृथ्वी की धारणा करे। प्रत्येक

धारणा के समय हं वं रं यं लं इन बीज मन्त्रों का क्रमशः उच्चारण करे। इस धारणा को सर्वश्रेष्ठ धारणा कहा गया है। यह सब प्रकार के पापों को नाश करने वाली है।

आजान्वन्तः पृथिव्यंशो
ह्यपां पाय्वन्तमुच्यते ।
हृदयांशस्तथाग्न्यंशो
भ्रूमध्यान्तोऽनिलांशकः ॥
आकाशांशस्तथा प्राज्ञ
मूर्धांशः परिकीर्तितः ।
ब्रह्माणं पृथिवी भागे
विष्णुं तोयांशके तथा ॥
अग्न्यंशे च महेशान-
मीश्वरं चानिलांशके ।
आकाशांशे महाप्राज्ञ
धारयेत्तु सदाशिवम् ॥

पांव से घुटने तक का भाग पृथ्वी का अंश माना गया है। घुटने से गुदा तक का भाग जलीय अंश, गुदा हृदय तक का अग्नि का अंश, हृदय से भौंहों तक वायु का और मस्तक भाग आकाश का अंश कहा गया है। पृथ्वी के अंश में ब्रह्मा का, जलांश में विष्णु का, अग्नि के अंश में महेश्वर का, वायु के अंश में ईश्वर का और आकाश के अंश में भगवान सदाशिव का ध्यान करना चाहिये,

अथवा तव वक्ष्यामि
धारणां मुनिपुंगव ।
पुरुषे सर्वशास्तारं
बोधानन्दमयं शिवम् ॥
धारयेद् बुद्धिमान्नित्यं
सर्वपापविशुद्धये ।
ब्रह्मादि कार्यरूपाणि स्वे-स्वे
संहृत्य कारणम् ॥
सर्वकारणमव्यक्त-
मनिरूप्यमचेतनम् ।
साक्षादात्मनि सम्पूर्णे
धारयेत्प्रणवेन तु ॥
इन्द्रियाणि समाहृत्य
मनसात्मनि योजयेत् ॥

हे मुने! अब मैं तुम्हारे प्रति एक अन्य धारणा का वर्णन करता हूँ। ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा में बोधमय आनन्दमय और कल्याण-मय परमात्मा की नित्यप्रति धारणा करे। इस धारणा से सभी पापोंसे छुटकारा मिलता है। कार्य रूपी ब्रह्मा आदि को अपने अपने कारण में लय करके बुद्धि से परे, अनिर्वचनीय अव्यक्त परमेश्वर को अपने अन्दर धारणा करता अपने मन को सब कलाओं वाले ॐकार रूप परमेश्वर में लग कर दे। इसके साथ ही इन्द्रियों को विषयों से हटाकर आत्मा में ही संलग्न कर दे।

इस प्रकार की धारणा ही ध्यान और समाधि का मूल है।

[ध्यान]

योग का सातवाँ अंग ध्यान है। ध्यान को योग रूपी मंजिल की अन्तिम सीढ़ी कहा जा सकता है। संस्कृत की "ध्यै-चिन्तायाम्" धातु से ध्यान शब्द की निष्पत्ति होती है। अतः ध्यान शब्द का अर्थ है—परमात्म तत्त्व का सतत चिन्तन होते रहना, एक क्षण के लिये भी मन का उस ओर से न हटना।

योग-दर्शन में ध्यान की परिभाषा करते हुए महर्षि पतंजलिदेव जी महाराज ने लिखा है—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

अर्थात् जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाय उसमें वह इतना एकाग्र हो जाय कि—केवल ध्येय मात्र की एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह चलता रहे, इस बीच साधक के चित्त में दूसरी वृत्ति उठे ही नहीं। यही स्थिति ध्यान कहलाती है।

गीता के छठे अध्याय के १९ वें श्लोक में योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज ने ध्यान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए यह स्पष्ट निर्णय दे रखा है कि—

यथा दीपो निवातस्थो
नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य
युञ्जतो योगमात्मनः॥

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में रखा हुआ दीपक बिल्कुल भी चलायमान नहीं होता, उसकी लौ (ज्योति) एकदम स्थिर रहती है, तनिक भी हिलती-डुलती नहीं है। यही उपमा परमेश्वर के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गयी है।

जाबालदर्शनोपनिषद में ध्यान का सविस्तार वर्णन किया गया है। योगी दत्तात्रेयजी महाराज अपने पवित्र योगोपदेश में कहते हैं—

अथातः संप्रवक्ष्यामि
ध्यानं संसार नाशनम्।
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म
सर्वं संसार भेषजम्॥
ऊर्ध्वरेतं विश्वरूपं
विरूपाक्षं महेश्वरम्।
सोऽहमभित्यादि रूपेण
ध्यायेद्योगीश्वरेश्वरम्॥

अब मैं ध्यान के उस प्रकार का वर्णन कर रहा हूँ जो संसार बन्धन से मुक्ति दिलाने वाला है। जो परमात्मा योगीश्वरों के भी ईश्वर, ऊर्ध्वरेता, विश्वरूप, विकराल नेत्र वाले महान ईश्वर हैं उन सत्यस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर का अत्यन्त श्रद्धापूर्वक ध्यान करना

चाहिये और ऐसी भावना करनी चाहिये कि—वह परब्रह्म परमेश्वर मैं ही हूँ।

अथवा सत्यमीशानं
ज्ञानमानन्दमद्वयम् ।
अव्यक्तमचलं नित्यमादि-
मध्यान्त वर्जितम् ।
तथा स्थूलमनाकाशम-
संस्पृश्यमचाक्षुषम् ॥
न रसं न च गन्धाख्य-
अप्रमेय मनूपम ॥
आत्मानं सच्चिदानन्द-
मनन्तं ब्रह्म सुव्रत ।
अहमस्मीत्यभिध्याये-
देहातीतं विमुक्तये ॥
एवमभ्यास युक्तस्य
पुरुषस्य महात्मनः ।
क्रमाद्वेदान्त विज्ञानं
विजायेत न संशयः ॥

जो परमात्मा सबका ईश्वर है, सत्य स्वरूप, आनन्दमय, अव्यक्त, अचल, नित्य, आदि-अन्त से रहित, स्थूल प्रपंच से परे, पंच महाभूतों की तन्मात्राओं—रूप, रस, गन्ध स्पर्श एवं शब्द द्वारा जिसे जाना नहीं जा सकता तथा जो विलक्षण, अप्रमेय, अनुपम और देहातीत है उसका लगातार चिन्तन करते रहना चाहिये। साधक को बुद्धि द्वारा यह भावना करनी चाहिये कि वह परब्रह्म परमेश्वर मैं ही हूँ। इस प्रकार का ध्यान मोक्षप्राप्ति का साधन है।

जो महात्मा पुरुष इस प्रकार के अभ्यास में लगा रहता है उसे वेदान्तोक्त ब्रह्मतत्व का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

[समाधि]

अष्टाङ्गयोग का अन्तिम अंग समाधि है। इसी की प्राप्ति के लिये हमारे योगाचार्य महानुभावों ने अष्टाङ्गयोग का उपदेश किया है। वस्तुतः समाधि की प्राप्ति ही योगसफलता है। यही मनुष्य के लिये परम प्राप्तव्य है।

जाबाल दर्शनोपनिषद में समाधि की विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा गया है—

अथातः संप्रवक्ष्यामि
समाधिं भवनाशनम् ।
समाधिः संविदुत्पत्तिः
परजीवैकतां प्रति ।
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा
कूटस्थो दोष वर्जितः ।
एकः सन्भिद्यते आत्मा
मायया न स्वरूपतः ॥

तस्मादहं तमेवास्मि
न प्रपंचो न संसृतिः ॥
यथाकाशो घटाकाश
महाकाश इतीरितः ॥
तथा भ्रान्तैर्द्विधा प्रोक्तो
ह्यात्मा जीवेश्वरात्मना ।
नाहं देहो न च प्राणो
नेन्द्रियाणि मनो न हि ।
सदा साक्षी स्वरूपत्वाच्छिव
एवास्मि केवलः ॥
इति धीर्या मुनिश्रेष्ठ सा
समाधिरिहोच्यते ॥

श्री दत्तात्रेय जी महाराज अपने शिष्य सांकृति मुनि को योगोपदेश करते हुए कह रहे हैं—

अब मैं संसार बन्धन को काट डालने वाली समाधि का वर्णन करता हूँ—परमात्मा और जीवात्मा के एकीभाव के सम्बन्ध में निश्चयात्मक बुद्धि का प्रकट हो जाना ही समाधि है। यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, कूटस्थ और सर्वदोष हीन है। वह एक होते हुए भी माया के उत्पन्न हुए भ्रम के कारण भिन्न-भिन्न दिखाई देता है। वस्तुतः उसमें कोई भेद नहीं है, इसलिये अद्वैत भाव ही सत्य है। प्रपंच नामक किसी वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है, जैसे आकाश को ही घटाकाश और महाकाश कहते हैं वैसे ही अज्ञानी पुरुष एक ही आत्मा को जीव और ब्रह्म दो रूपों में मानते हैं। जो यह समझता है कि—मैं देह, प्राण, इन्द्रिय और मन नहीं हूँ—मैं तो साक्षी स्वरूप में स्थित एकमात्र शिवरूप परमात्मा ही हूँ। उस प्रकार की निश्चयात्मिका बुद्धि को ही समाधि कहते हैं।

सोऽहं ब्रह्म न संसारी
मत्तोऽन्यः कदाचन ।
यथा फेनतरंगादि
समुद्रादुत्थितं पुनः ॥
समुद्रे लीयते
तद्वज्जगन्मय्यनुलीयते ।
तस्मान्मनः पृथङ् नास्ति
जगन्माया च नास्ति हि ।
यस्यैवं परमात्मायं
प्रत्यग्भूतः प्रकाशितः ।
स तु याति च पुं भावं
स्वयं साक्षात्परामृतम् ।
यदा मनसि चैतन्यं
भाति सर्वत्रगः सदा ।
योगिनोऽव्यवधानेन तदा
संपद्यते स्वयम् ॥
यदा सर्वाणि भूतानि
स्वात्मन्येव हि पश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं
ब्रह्म संपद्यते तदा ॥
यदा सर्वाणि भूतानि
समाधिस्थो न पश्यति ।
एकीभूतः परेणासौ
तदा भवति केवलः ॥
यदा पश्यति चात्मानं
केवलं परमार्थतः ।
मायामात्रं जगत्कृत्स्नं
तदा भवति निर्वृतिः ॥
एवमुक्त्वा स भगवान्द-
त्तात्रेयो महामुनिः ॥
सांकृतिः स्वरूपेण
सुखमास्तेऽतिनिर्भयः ॥

मैं परब्रह्म परमेश्वर हूँ, संसार के बन्धनों में पड़ा हुआ जीव नहीं हूँ। मुझसे भिन्न किसी वस्तु का कभी भी अस्तित्व नहीं रहा है। जैसे फेन और लहरें समुद्र से उठकर फिर समुद्र में ही लीन हो जाते हैं वैसे ही यह जगत मुझसे ही उत्पन्न होता है और फिर मुझमें लय हो जाता है। इसलिये मन की मुझसे पृथक सत्ता नहीं है। इसी प्रकार इस विश्व का और माया का भी मुझसे भिन्न अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार जिस पुरुष के लिये यह परमात्मा प्रकाशित हो जाता है अर्थात् जो परमात्मा को अपने आत्मरूप से जान लेता है वह परम अनुपम परमात्मभाव को प्राप्त हो जाता है। जब योगी के चित्त में सर्वव्यापी आत्म चैतन्य का अनुभव होने लगता है तब वह स्वयं ही परमात्म रूप में स्थित हो जाता है। ज्ञानी पुरुष जब सब प्राणियों को अपने में और अपने को सब प्राणियों में स्थित देखता है तब वह परमात्मा ही बन जाता है। जब वह समाधिस्थ पुरुष परमात्मा से एकत्व प्राप्त करके अपने से भिन्न किसी भी प्राणी को नहीं देखता तब वह परमात्मा का स्वरूप ही बन जाता है। जब वह केवल अपने आत्मा को सत्य मानता है और सम्पूर्ण विश्व को माया का खेल मात्र समझता है तब वह परमानन्द को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार उपदेश देकर दत्तात्रेय जी महाराज चुप हो गये और सांकृति मुनि इस उपदेश को हृदयंगम कर अपने यथार्थ रूप में स्थित हो गये और भय रहित होकर आनन्द में निमग्न हो गये।

योग दर्शन में धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का परस्पर अंग-अंगी सम्बन्ध बतलाया गया है। इन तीनों में समाधि तो अंगी है और धारणा तथा ध्यान उसके अंग हैं। इस धारणा काल में चित्त की विषयाकार वृत्ति त्रिपुटी सहित होती है। वह त्रिपुटी है-ध्याता (ध्यान करने वाला) ध्यान और ध्येय। ध्याता (ध्यान करने वाला) चित्त है, चित्त को वह

वृत्ति जिसके द्वारा किसी विषय का ध्यान किया जाता है—'ध्यान' कहलाता है और जिसका ध्यान किया जा रहा है वह विषय 'ध्येय' है। धारणा तथा ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय रूप त्रिपुटी बराबर बनी रहती है। किन्तु समाधि में ध्यातृ और ध्यान अपने स्वरूप से शून्य होकर ध्येय रूप में भासित होने लगते हैं। अर्थात् ध्यान करने वाला साधक अपने ध्येय विषय में इस प्रकार लय हो जाता है यहाँ तक कि—वह अपने स्वरूप को भी भूल जाता है। और वह जिसका ध्यान कर रहा हो उसी कोही अपना स्वरूप समझने लगता है।

भगवान पतंजलिदेव जी महाराज लिखते हैं—

तदेवार्थमात्र निर्भासं
स्वरूपशून्यमिव समाधि।

अर्थात्—अभ्यास के बल से जब वही ध्यान अपने ध्यानाकार रूप से रहित जैसा होकर केवल ध्येय स्वरूप में प्रकाशित होने लगे तब वह समाधि कहलाती है। ध्यानावस्था में ध्येयाकार वृत्ति अपने ध्येय विषय को पूरी तरह प्रकाशित नहीं करती, क्योंकि उसमें ध्याता और ध्यान बराबर बने रहते हैं। अर्थात् उस समय साधक को यह आभास होता रहता है कि—मैं ध्यान कर रहा हूँ, फलाने का ध्यान कर रहा हूँ, यह ध्यान की अवस्था है—आदि-आदि। लेकिन समाधि में ध्येय केवल अर्थमात्र से भासता है और ध्यान का स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है।

योग-दर्शन में धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों के समाहार को संयम कहा गया है। क्योंकि धारणा, ध्यान और समाधि तीनों संयम के अन्तर्गत आ जाते हैं और संयम के ही भाग हैं। किसी ध्येय विषय में चित्तवृत्ति को ठहराने का नाम 'धारणा' है। जब देर तक लगातार चित्त उस ध्येय विषय में ठहरा रहे, बीच-बीच में अन्य वृत्ति न उठे तब वह 'ध्यान' कहलाता है और जब वह ध्यान इतना सूक्ष्म हो जाये कि—ध्याता को ध्येय विषय के अतिरिक्त कुछ भी ज्ञान न रहे, यहाँ तक कि उसे अपने शरीर की भी सुध-बुध न रहे तब ध्यान की यह परिपक्वावस्था 'समाधि' कहलायेगी।

× × × ×

अष्टाङ्गयोग में धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन अङ्गों का ही विशेष महत्व है। अस्तु, योग का आरम्भ धारणा से होता है और उसका अन्तिम सोपान समाधि होता है। ये तीनों अंग योग के अन्तरंग अंग योग के अन्तरंग अंग हैं। यम-नियम आदि पाँच अंग उनकी पुष्टि के लिये होते हैं।

ध्यानबिन्दूपनिषद योगचूडामणि उपनिषद, महोपनिषद, श्वेताश्वतरोपनिषद

सेवा से योग सिद्धि

(पृष्ठ ८ का शेष)

से जो सेवा करता है उसको योगसिद्धि सुगमता प्राप्त हो जाती है। चाहिए गुरुदेव में दृढ़तम ईश्वर बुद्धि। बल्कि ईश्वर से भी अधिक सम- झकर सद्भाव से गुरुदेव की सेवा करने पर सारे देवता एवं पितर प्रसन्न होकर साधक के जीवन के विघ्नों को दूर कर देते हैं। इसी प्रकार जो अपने माता-पिता की सेवा करते हैं उन्हें तीर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। अतिथि सेवा का महत्व तो सर्वविदित है। अतिथि को हिन्दू संस्कृति में देव माना गया है। स्वयं भूखे रहकर भी अतिथि की सेवा करने के अनेकों उदाहरण हमारे देश में मिलते हैं। एक ग्राम में एक निर्धन किसान था। उसके मन में प्रारम्भ से ही यह धारणा थी कि चाहे जो हो अतिथि की सेवा करनी है। स्वयं भूखे रहकर भी वह आगन्तुक को भोजन कराता था यह उसका बड़ा नियम था। उसके पुण्यों के फलस्वरूप अब उसका परिवार हर प्रकार से सम्पन्न तथा सुखी है। कुछ लोग गो-सेवा का व्रत लेते हैं। एक महात्मा को हमने देखा है जिन्हें गो-सेवा तथा गुरुसेवा से ही योग की उच्चस्थितियाँ प्राप्त हैं। समाधि, लीला, दूर श्रवण, दूरदर्शन तथा सर्वदर्शन की स्थितियों को हमने प्रत्यक्ष उनमें देखा है।

सेवा के सैकड़ों प्रकार हो सकते हैं। असहाय, भूखे, नंगे, बीमार, अनाथ तथा दुःखित प्राणियों को दरिद्रनारायण समझकर प्रसन्नमन से उनकी सेवा करना बहुत बड़ा तप है। सेवा स्वयं प्रेम तथा समर्पण भाव से करनी चाहिए। तभी उसका फल मिलता है। छोटे से छोटा कार्य भी बड़ी सेवा है। भग- वान श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में अतिथियों के पैर धोने तथा उनकी जूठन उठाने का कार्य अपने लिए चुना था। अधि- कतर लोग सेवा करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। अथवा सेवा के नाम पर वे लोग अपने अहंकार को और पुष्ट करते रहते हैं। यदि किसी को कुछ देते हैं तो उसको उसके छोटेपन का अहसास करा देते हैं। यह सेवा नहीं है। जिसे अहसान समझा जा रहा है। उसपर यदि उसकी सेवा करते हैं तो हम उस

× × × ×

(पिछले पृष्ठ का शेष)

आदि उपनिषदों में ध्यान महिमा का वर्णन किया गया है। जाबालदर्शनोपनिषद् में योग के सभी अंगों का सविस्तार वर्णन मिलता है जिसे पाठकों के हितार्थ प्रस्तुत लेख में दिया गया है।

—✡✡—

शुद्धि को लिए हमें उस विशेष प्राणी के माध्यम से सेवा का अवसर दिया है। प्रभु की कृपा समझ कर हमें दूसरों की सेवा करनी चाहिए तथा दूसरों की सेवा लेने से साधक को बचना चाहिए। क्योंकि जो सेवा करता है वह दूसरे की कमाई का भागीदार बन जाता है। ध्यान योगी की यदि कोई सेवा करता है तो वह उसके पुण्य का हिस्सेदार बन जाता है। सेवा में अहंकार न आ पावे तभी सेवा योग में परिणत हो पाती। साथ ही अपात्रों की सेवा से भी बचना चाहिए। क्योंकि मनुष्य सेव्य के गुण आ जाते हैं।

मनुष्य जैसी संगति करता है और जैसे लोगों की सेवा करता है वैसा ही हो जाता है। महापुरुषों की सेवा करने से साधक महापुरुष बनेगा और कुत्सित स्वभाव वाले अहंकारी लोगों की सेवा करने से नीचता के गुण उसमें आ जायेंगे। जैसे जगज्जननी सीता छद्मवेषी रावण की सेवा करने से विपत्ति में पड़ गयी। अतः साधक को अपने विवेक से पहचान कर साधु सन्त तथा ज्ञानी पुरुषों की तन मन धन से सेवा करनी चाहिए। जब अन्तःकरण की शुद्धि हो जायगी तब प्रत्येक प्राणी में देवत्व के दर्शन होने लगेगा। उस स्थिति में दुष्ट पुरुष की सेवा करने पर उसके गुणों से योगी अभिभूत नहीं होगा प्रत्युत सेवा करने वाले का प्रभाव उस पर पड़ेगा।

मनुष्य के शरीर का कोई उपयोग नहीं है। पशु का शरीर मरने के बाद भी दूसरों के काम आता है। मनुष्य के शरीर में कितनी ही पवित्र और अच्छी कोई वस्तु डाली जाय थोड़े समय में वह वस्तु गन्दगी में बदल जाती है। मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी में है कि वह दूसरों की सेवा के काम आवे। इससे कुछ नेक कमाई कर ली जाय। दीन दुखियों की सेवा करने से आत्म सुख मिलता है। जीवन और जगत की सत्यता का अनुभव होता है। साधक जहाँ भी रहे उसे कर्मरत रहना चाहिए और परोपकार सेवा तथा सत्कार द्वारा अपने अहंकार का विसर्जन करते हुए सभी प्राणियों में परमेश्वर के दर्शन करते रहना चाहिए। जिसके पास जो भी साधन है उसी को सेवा में लगाना चाहिए। प्रायः हम लोग उससे सेवा करना चाहते हैं जो वस्तु हमारे पास नहीं। वाणी से सद्गुणों की कीर्ति गाना कानों से प्रभु के लीला चरित्रों को सुनना, हाथों से प्रभु दरबार की सफाई करना दीन दुखियों तथा पूज्यों की हर प्रकार से सेवा करना श्रेयस्कर है।

—✿✿—

अब कैसे खेलूँ खेल किनारे से मैं

—श्री प्रताप दीक्षित

मझधारों में क्रीड़ायें की हैं मैंने।
अब कैसे खेलूँ खेल किनारे से मैं॥
आशायें आकर खेलीं इस गोदी में
इनसे घबराती रहीं सदा बाधायें।
पतझर के सन्देशों से क्या परिचय है
मेरी मुसकानें रहीं सदा कलिकायें।
त्रैलोक्य इन्हीं पैरों से मैंने नापा
अब पथ पर कैसे चलूँ सहारे से मैं।
अब कैसे खेलूँ खेल किनारे से मैं॥
मैं कवि होकर स्वच्छन्द सदा विचरा हूँ
सब छन्द बन्द हैं मेरे ही चरणों में।
जग के सारे वैभव विलास होकर नत
लोटा करते हैं मेरे इन चरणों में।
सोता आया है चाँद इसी गोदी में
क्या मन बहलाऊँ आज सितारों से मैं।
अब कैसे खेलूँ खेल किनारे से मैं॥
इस बेकल जग का का प्रलय सृष्टि का देखो
इतिहास छिपा है मेरी दो आँखों में।
अपनी हारों पर विजय सदा पाने को
विश्वास छिपा है मेरी दो बाहों में।
जब हुआ जन्म के साथ मृत्यु से परिचय
क्यों डरूँ नियति के मौन इशारे से मैं।
अब कैसे खेलूँ खेल किनारे से मैं॥

स्वरूप ज्ञान का महत्व-

—श्री पं० रामनरेश मिश्र शास्त्री

पुण्य और पापकी उत्पत्ति राग–द्वेष से होती है। पूर्वोक्त, एवं प्रस्तुत–शरीरसंपादित पुण्य–पाप–जनित फलोंके भोग चुकने पर भी रागद्वेषके कारण फिर दूसरे नये पुण्य अथवा पाप उत्पन्न हो जाया करते हैं। इसलिये पाप और पुण्य के जनक 'राग–द्वेष' ही हैं। इन राग–द्वेष की उत्पत्ति अनुकूल ज्ञान और प्रतिकूल ज्ञान से हुआ करती है। जिस वस्तु में अनुकूलपने का ज्ञान होता है उसमें 'राग' होता है। जिसमें प्रतिकूलपने का ज्ञान होता है उसमें 'द्वेष' होता है। अनुकूल और प्रतिकूलपने की उत्पत्ति भेद ज्ञान से होती है। क्योंकि अनुकूलपना और प्रतिकूलपना उसी वस्तुमें होता है जो अपने से भिन्न होता है। जैसे अपनी स्त्री अथवा अन्य जिस किसी पर अपना पूर्ण ममत्व होता है वह भोजन आदि कार्य करता है और असावधानी या अन्य किसी कारणवश त्रुटि हो जाती है तो उसपर अपनी प्रकृति एवं शक्ति के अनुसार क्रोध का वार करने लग जाता है, परन्तु जब स्वयं अपने हाथ से कुछ काम बिगड़ जाता है, तो क्रोध प्रकट करने की कौन कहे ! यह माया–बन्धन में जकड़ा हुआ प्राणी तनिक भी अपने मनमें लज्जा या ग्लानि नहीं मानता कि यह कार्य मेरी मूर्खता के कारण हुआ है। किन्तु उल्टा सोचकर पूर्णतया शांति-भाव को प्राप्त हो जाता है कि "भूल अथवा असावधानी प्राणी मात्र से हुआ करती है इसलिए मुझसे हो गई तो क्या हानि है ?" मतलब यह है राग-द्वेष का प्रयोग उसी वस्तु में किया जाता है जो अपने से भिन्न होती है, यह प्राकृतिक नियम है इस भेद-ज्ञान की निवृत्ति तभी हो सकती है जब अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाय, और अपने स्वरूप का सच्चा ज्ञान तभी होता है जब सद्गुरु के बताये हुए योग-मार्ग की ओर श्रद्धा पूर्वक बढ़ने के लिए सतत प्रयत्न किया जाय।

महायोगी ऋषि माण्डव्य

—डा० श्रीमती राजकुमारी मिश्रा, अलकापुरी, नई दिल्ली

योगाभ्यास की उपलब्धियां लोकोपयोगी होती है। पूर्ण योगी सर्वसमर्थ तथा अनेक ब्रह्माण्डों की सृष्टि का संहार व पालन करने में समर्थ होता है। वह "कर्तुं मकर्तुं मन्यथा कर्तुं म्" शक्ति से संपन्न हो जाता है। इसी प्रकार के शक्तिमान् थे महायोगी ऋषि माण्डव्य। इनके जीवन की एक ही घटना का उल्लेख उनकी योगशक्ति का परिचायक है।

ऋषि माण्डव्य एक ब्राह्मण थे, जो धैर्यवान, धर्मज्ञ, सत्यनिष्ठ एवं परम तपस्वी थे। वे अपने आश्रम के द्वार पर वृक्ष के नीचे भुजाएं उठाकर, मौन व्रत धारण करके, खड़े होकर उग्र तपस्या करते थे। वे एक महान योगी थे व कालक्रम से तथा साधना की प्रगति द्वारा उनमें प्रचुर योगशक्तियों का विकास हो गया था। बहुत समय तक महर्षि इसी प्रकार साधना करते रहे।

एक दिन इनके आश्रम पर कुछ चोर आये। उनके पास चोरी का माल भी था। बहुत से सैनिक उनका पीछा कर रहे थे अतः उन चोरों ने चोरी का माल ऋषि के आश्रम में छिपा दिया तथा स्वयं भी वहीं छिपकर बैठ गये। तभी राजा की सेना उन चोरों को ढूंढती हुई आश्रम पर आ पहुंची। वहां आश्रम के द्वार पर तपस्या में संलग्न ऋषि को देखकर सैनिकों ने पूछा "चोर किस रास्ते से से गये हैं? शीघ्र बताइये जिससे हम शीघ्र गति से पीछा करके उन्हें पकड़ सकें।" परन्तु ऋषि ने तो मौनव्रत धारण किया हुआ था, अतः उन्होंने सैनिकों को कोई उत्तर नहीं दिया। तब सैनिकों ने आश्रम में ही तलाशी लेना शुरू किया। वहां उन्होंने चोरी का माल तथा चोरों को अपनी हिरासत में ले लिया। उनके मन में ऋषि माण्डव्य के प्रति भी सन्देह उत्पन्न हो गया तथा वे उन्हें बांधकर राजा के पास ले गये, और सारी कहानी राजा

को सुना दी।

राजा ने उन चोरों के साथ ऋषि को भी प्राणदण्ड की आज्ञा दे दी। राजसैनिकों ने भी ऋषि को नहीं पहचाना तथा शूली पर चढ़ा दिया। परमयोगी व तपस्वी ऋषि माण्डव्य बहुत काल तक शूली पर बैठे रहे तथा भोजन न मिलने पर भी उनकी मृत्यु नहीं हुई। वे प्राण धारण किये रहे और स्मरण मात्र से ही अन्य ऋषियों को अपने पास बुलाने लगे। वे ऋषि शूली की नोक पर तपस्या करने वाले उन महात्मा अणिमाण्डव्य से बहुत प्रभावित हुए व उन्हें देखकर सन्तप्त भी हुए। वे रात में पक्षियों का रूप धारण करके वहां उड़ते हुए आये तथा यथाशक्ति अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हुए माण्डव्य ऋषि से पूछने लगे—हे ऋषि श्रेष्ठ! हम सुनना चाहते हैं कि आपने क्या पाप किया है, जिससे आपको शूली पर बैठने का इतना कष्ट भोगना पड़ रहा है? ऋषि ने उत्तर दिया मैं किस पर दोष लगाऊं? अन्य किसी ने मेरा कुछ अपराध नहीं किया है।

जब सैनिकों ने उन्हें बहुत दिनों तक शूली पर बैठे देखा तो राजा के पास यह समाचार यथावत पहुँचा दिया। सारा वृतान्त सुनकर मन्त्रियों से सलाह करके राजा ने शूलीस्थित मुनि को प्रसन्न करने का निश्चय व प्रयास किया। वे बोले, हे मुनि श्रेष्ठ मैंने अज्ञानवश अथवा मोहवश जो अपराध किया है, उसके लिए आप मुझ पर क्रोध न करें। कृपया मुझे क्षमादान दीजिए व प्रसन्न हो जाइये।

सज्जन तो होते ही हैं आशुतोष राजा की विनम्रता से ऋषि माण्डव्य प्रसन्न हो गये। उन्हें शूली से उतारा गया तथा उनके शरीर से शूली को निकालने के लिए खींचा गया, परन्तु वह शूली नहीं निकल सकी। तब शूली को मूलभाग में काट दिया। फिर ऋषि माण्डव्य शूली के अग्रभाग को अपने शरीर के भीतर लिये हुए ही विचरने लगे तथा अपनी उग्र तपस्या के द्वारा अति दुर्लभ पुण्यलोकों पर विजय पाई। शूली के अग्रभाग को अणी कहते हैं। अणी के मूलभाग में धारण किए हुए वे घूमते थे, अतः लोग उन्हें अणीमाण्डव्य ऋषि कहने लगे।

एक बार परमात्मतत्त्वज्ञ ऋषि माण्डव्य ने विचरते हुए धर्मराज के भवन में जाकर उन्हें दिव्य आसन पर आसीन देखा। वे धर्मराज को उलहना देते हुए पूछने लगे—"मैंने अनजाने में कौन सा पाप किया था जिसके फल का यह भोग मुझे इस प्रकार मिल रहा है। शीघ्र बताओ, तथा फिर मेरी तपस्या का बल देखो।" धर्मराज ने उत्तर दिया "हे तपोधन! तुमने बाल्यावस्था में पतिंगों के पूँछ भाग में सींक घुसेड़ दी थी। उसी कर्म के फलस्वरूप उन्हें शूलाग्रभाग की वेदना सहनी पड़ी है। जिस प्रकार थोड़ा सा भी किया हुआ दान, कई गुना फल देने वाला होता है वैसे ही थोड़ा सा अधर्म भी बहुत दुःख रूपी फल देने वाला होता है"।

तब माण्डव्य ने कहा, "जन्म से लेकर बारह वर्ष की आयु तक बालक जो कुछ भी करता है, उसमें अधर्म नहीं होता, क्योंकि उस समय तक बालक को धर्मशास्त्र के आदेश का ज्ञान नहीं हो सकता। हे धर्मराज! तुमने थोड़े से अपराध के लिए मुझे बहुत बड़ा दण्ड दिया है। ब्राह्मण का वध सम्पूर्ण प्राणियों के वध से भी अधिक भयंकर होता है, अतः हे धर्मराज तुम मनुष्य होकर शूद्रयोनि में जन्म लोगे। आज से मैं नई धर्ममर्यादा स्थापित करता हूँ चौदह वर्ष तक की आयु तक किसी को पाप नहीं लगेगा। उससे अधिक आयु में ही पाप करने वालों को दोष लगेगा।

इस प्रकार अपनी योगशक्ति व निष्ठा द्वारा ऋषि माण्डव्य ने पाप पुण्य की एक नई व्यवस्था प्रारम्भ कर दी। उनके शाप के कारण ही धर्मराज ने मनुष्य रूप में शूद्रा दासी के गर्भ से जन्म लिया तथा विदुर नाम से विख्यात हुए।

---

* शास्त्र-विहित कर्मों के करने को जो मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे 'भक्ति' कहते हैं। यानी वेदविहित सोमादि सत्कर्मों के विषय में जो संशय विपर्यय रहित श्रद्धा है वही 'भक्ति' कहाती है।

—श्री पं० रामनरेश मिश्र शास्त्री

सद्गुरु सत्ता—सत्संग

डा० श्री केशवराम शर्मा

इस भवसागर से पार होने के लिए सद्गुरु रूपी मल्लाह सत्नाम रूपी नौका तथा सत्संगरूपी पतवार की आवश्यकता है। जब तक कोई विश्वस्त मल्लाह नहीं मिलता सागर-पार करने की कल्पना भी सम्भव नहीं है। साधक के दृढ़ संकल्प तथा सच्ची निष्ठा से प्रसन्न होकर मल्लाह इस लम्बी यात्रा के लिए उसे नौका का आधार और पतवार देकर अपने साथ मिलकर खेने की प्रेरणा देता है। साधक इन तीन अवलम्बों को पाकर कृतार्थ हो जाता है। वह इनका उचित आदर करता हुआ, अपनी साधना को उत्तरोत्तर बढ़ाता हुआ एक दिन अपनी चरम सीमा को पा लेता है और तब उसका जीवन धन्य हो जाता है।

ये तीनों 'सत्' एक-दूसरे से किस प्रकार जुड़े हैं? इनका पृथक्-पृथक् क्या महत्व है? यही इस लेख का विवेच्य विषय है। तो आइए, अब हम एक-एक विषय पर प्रकाश डालते हैं।

सद्गुरु—

'सतगुरु की महिमा अनन्त,

अनन्त किया उपगार।

लोचन अनन्त उघाड़िया,

अनन्त दिखावणहार॥'१

कबीर के अनुसार परमात्मा 'अनन्त' है। उसकी माया-ममता, शक्ति-स्वरूप, महिमा-गरिमा, कृपा-करुणा किसी का भी कोई ओर-छोर नहीं है। ठीक ऐसी ही महिमा और स्वरूप सद्गुरुदेव का भी है। अपने शिष्य के प्रति उनकी कृपा भी 'अनन्त' होती है। गुरुदेव की कृपा से क्या सम्भव नहीं है—'कोटि जनम का पन्थ था, पल में पहुँचा जाय' यह है उन की कृपा का अद्भुत चमत्कार।

'अन्धै अन्धा ठेलिया, दून्यूं कूप पड़न्त' २

की चर्चा यहाँ नहीं है। समर्थगुरुदेव अपने शक्तिपात से अपनी करुणा से एक क्षण में ही साधक को 'रत्नाकर' से 'वाल्मीकि' बना देते हैं। उसे डाकू से ऋषि पद का अधिकारी बना देते हैं। 'रसवन्ती' की भाँति वेश्या सुन्दरी से साध्वी-तपस्विनी बना देते हैं। मैं एक बार फिर कहना चाहूँगा—

१—संपा० पारसनाथ शास्त्री—'कबीर-साखी सार', साखी सं० ३ (तृतीय संस्करण, १९६०)
२—उपर्युक्त, साखी सं० १५

'गली-गली में गुरु फिरें,
मोटा सिक्षा देत ।
सदा सत्यता देख करि,
गुरु दीक्षा लै लेत ॥'

हमें ऐसे पाखण्डी, पेटू, नकली दीक्षा देने वाले फक्कड़ों से सावधान रहना होगा।

महात्मा कबीरदास ने भी इस प्रकार की चेतावनी दी है—

'कबीर सतगुरु ना मिल्या
रही अधूरी सीख ।
स्वांग जती का पहिरि करि,
घरि-घरि मांगै भीख ॥' १

लोकोक्ति है—'गुरु कीजिए जान के, पानी पीजिए छान के।' यद्यपि सद्गुरु की महिमा, उनकी सिद्धियाँ तथा शक्तियां अनन्त हैं और कुशाग्र से कुशल साधक भी उनका पार पाने में असमर्थ है तथापि कुछ समय तक उनके ज्ञान तथा आचरण का परीक्षण अत्यन्त आवश्यक है। समर्थ सद्गुरुदेव की प्राप्ति का अर्थ है साधक की आधी यात्रा का पूर्ण हो जाना। इसके बाद हमारा लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है तथा शक्ति एक दिशा में केन्द्रित होकर सफलता को सुनिश्चित बना देती है।

सद्गुरु की प्राप्ति अनेक पुण्यों के फल-स्वरूप बड़े सौभाग्य से होती है। गुरुदेव दीक्षा देने से पूर्व शिष्य को भली प्रकार जानकर भी देखते हैं क्योंकि 'पात्रे दानं फलप्रदम्' २ का सिद्धान्त भी महत्वपूर्ण है। प्राचीन युग के उद्दालक-आरुणि, शुक्राचार्य-कच आदि के अनेक ज्वलंत उदाहरण इस तथ्य के प्रमाण हैं। आज दुर्भाग्य से कुछ कुपात्र भी योग विद्या के अति किञ्चित् ज्ञान के अधिकारी बनकर प्राणायाम आदि के बल से जन मानस को चमत्कृत करते दिखाई पड़ते हैं। परिणाम-स्वरूप आज का समाज योगमार्ग को इसके चमत्कारपूर्ण विकृतरूप में देखने का अभ्यस्त होने लगा है। जहाँ गुरुदेव का अपने शिष्य के लिए यह उपदेश होता है कि वह समुद्र को पीकर भी होंठ सूखे रखे, अविच्छिन्न ज्ञान-सुधा का पिपासु बना रहे, वहाँ चमत्कार-प्रदर्शन की भावना, सम्यग्ज्ञान के स्थान पर आडम्बर, आत्माभिमुख होने के स्थान पर बहिर्मुखी वृत्ति, तथा यह अमृत के स्थान पर विषपान जैसी स्थिति नहीं है?

सद्गुरु जो अध्यात्म के ज्ञाता, सम्यग्ज्ञान के प्रदाता हों उनकी प्राप्ति हमारी पहली आवश्यकता है। सौभाग्य से गुरुदेव मिल जायें और वे साधक को शिष्यत्व में स्वीकार कर लें तो प्रयास पर विचार करने की स्थिति बनती है।

१—उपर्युक्त, साखी सं० ५२

२—सुपात्र प्रदत्त थोड़ा ज्ञान भी स्वयं ही विकसित होकर उसका तथा पूरे मानव-समाज का कल्याण करता है।

सन्यास—

अन्तरात्मा परम प्रभु सर्वव्यापक 'अनन्त' है। परमात्मा के नाम, काम, स्वरूप सभी तो अनन्त हैं। फलस्वरूप गुरुदेव भी अपनी साधना अनुभव तथा शिष्य की निष्ठा के आधार पर उसे परमात्मा के ॐ, शिव, राम-कृष्ण आदि किसी भी नाम को जपने की प्रेरणा देते हैं। अथवा गुरुमन्त्र के रूप में किसी भी स्वानुभूत मन्त्र की दीक्षा देकर शिष्य को कृतार्थ कर देते हैं। गुरुदेव की कृपा का अवलम्बन पाकर तथा उनके द्वारा प्रदत्त गुरुमन्त्र के मानस-जप से साधक का उत्तरोत्तर विकास होता है। कुण्डलिनी-जागरण तक शिष्य को कदम-कदम पर गुरुकृपा की ठीक उसी प्रकार आवश्यकता पड़ती है, जैसे कि जन्म लेने से अपने पैरों पर चलने का अभ्यास करने तक एक शिशु को माता की देख-भाल की आवश्यकता रहती है, यद्यपि तदनन्तर भी बालक को माता के स्नेह तथा कृपाभाव की अपेक्षा रहती है तथापि वह पूर्णतया उसी पर निर्भर नहीं होता। ठीक उसी प्रकार साधक भी साधना के अवशिष्ट मार्ग को पूरा करने के लिए बहुत कुछ आत्म-निर्भर हो जाता है।

सुज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर साधक का अपना उत्तरदायित्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। 'जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ' के अनुसार वह साधना पर जितना अधिक बल देगा उतनी ही शीघ्र एक के बाद एक उसके षट्चक्रों का भेदन होता चलेगा और वह अपने परम लक्ष्य तक पहुँच जायेगा। निरन्तर अभ्यास करने से भगवान राम का जप भी वाचिक से मानसिक तथा कालान्तर में 'सांस-सांस में राम कहूं' की स्थिति में पहुँच जायेगा। जब 'राम-नाम का इकतारा चौबीसों घण्टे बजने लगेगा' १ तभी साधक का जन्म सफल हो सकेगा।

प्रभु के नाम में ऐसी शक्ति है कि भावुक होकर उसे चाहे किसी भी रूप में क्यों न जप करें सफलता निश्चित है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी ओर संकेत करते हुए कहा है—'उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भये ब्रह्म समाना॥' २ यहाँ गोस्वामी जी का मन्तव्य प्रभु के उलटे नाम को जपने की महिमा का बखान करना नहीं है। वे संकेत किया चाहते हैं कि प्रभु का नाम जैसे-तैसे लेकर देखो—आपको आशातीत सफलता मिलेगी। इस प्रसंग में और अधिक प्रकाश डालते हुए वे अन्यत्र कहते हैं—

१—पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के निबन्ध 'गांधी और कबीर' की पाद टिप्पणी—
गांधी जी का कहना है—राम नाम का इकतारा तो चौबीसों घण्टे, सोते हुए भी श्वास की तरह स्वाभाविक रीति से चलता रहना चाहिए।'

२-तुलसीदास-श्रीरामचरित मानस २/१९३/७

'तुलसी अपने राम को, रीझ भजो या खीज।
उलटा-सीधा जामि है, पड़ा खेत में बीज॥'

मध्यकालीन आचार्यों में चैतन्य महाप्रभु ने नाम-जप पर सर्वाधिक बल दिया है। महाप्रभु की कीर्तन-भक्ति ने जन-मानस को इतना आन्दोलित किया था कि भगवान् कृष्ण की मुरली के समान ही उनका संकीर्तन भी चर्चा तथा आकर्षण का विषय बन गया था। हरि-कीर्तन में लीन होने के वास्तविक सुख का संकेत करते हुए आप कामना करते हैं—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं,
गद्गद्-रुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव,
नामग्रहणे भविष्यति॥१

हे प्रभो! मैं उत्सुकता से उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जब सौभाग्य से आपके शुभनाम का संकीर्तन करने में मेरी स्थिति एक सच्चे भक्त के समान होगी। जिसमें नेत्रों से सतत अश्रुधारा बहेगी। कण्ठ के अवरुद्ध हो जाने से वाणी गद्गद् हो रही होगी तथा शरीर रोमांचपूर्ण होकर परमानन्द की अभिव्यक्ति कर रहा होगा।' 'सब तज हरि भज' की नीति पर चलते हुए एकनिष्ठ होकर सतत प्रभु का नाम जपने वाले साधक के शरीरस्थ सभी चक्रों का अनायास ही भेदन होकर उसे समाधि का सुख मिलने लगता है। भक्तों ने 'हरि से बड़ा हरि का नाम' इसीलिए कहा है कि साधक आरम्भ में ही घना बाढ़ की भांति प्रभु के दर्शनों के लिए छटपटाने का कठिन मार्ग अपनाने के स्थान पर 'धीरे-धीरे रे मना! धीरे सब कुछ होय' के शान्ति पथ का पथिक बने। नाम जप लम्बी शृंखला की एक एक कड़ी का काम करता है। प्रभु को पाने का इससे सरल तथा उत्तम कोई भी उपाय नहीं है। 'पद्मपुराण' में स्वयं भगवान् ने अपने श्रीमुख से कीर्तन भक्ति को प्रश्रय देते हुए कहा है—

'नाहं वसामि वैकुण्ठे
योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति
तत्र तिष्ठामि नारद॥
२

हे नारद! मुझे वैकुण्ठ तथा यहाँ तक योगियों के हृदय का निवास भी प्रिय नहीं जहाँ भी मेरे भक्तों का संकीर्तन चलता है, वहीं मेरा अभीष्ट निवास स्थान है।'

ध्रुव, प्रह्लाद, वाल्मीकि आदि के जीवन दर्शन से हमें सतनाम ग्रहण करने की प्रेरणा मिलती है इस संकीर्तन में सत्संग का महत्व भी विचारणीय है। अब हम उस पर भी थोड़ा प्रकाश डालेंगे।

---

१. चैतन्य शिक्षाष्टकम्, श्लोक ६
२. पद्मपुराण, उत्तर खण्ड ९४/२३

सत्संग—

जिस प्रकार नवांकुरित पौधे को अपने सम्यक विकास के लिए अच्छी भूमि के अतिरिक्त जल, वायु, प्रकाश तथा उर्वरक आदि की अपेक्षा रहती है, ठीक उसी प्रकार साधना रूपी पौधे की शीघ्रता से फलने-फूलने के लिए सत्संग की आवश्यकता होती है।

"बिनु सतसंग बिबेक न होई।

राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥" १

भक्त प्रवर तुलसी के अनुसार भी सत्संग के बिना ज्ञान नहीं होता तथा सत्संगति की प्राप्ति भगवान की कृपा के बिना सम्भव नहीं क्योंकि—

"बिनु हरिकृपा मिलहिं नहीं संता।" २

प्राचीन काल के ही मनस्वियों ने ज्ञान रूपी हीरे को पाने के साथ ही उसकी सुरक्षा के निमित्त सत्संग की आवश्यकता का अनुभव किया है।

आध्यात्मिक विकास के निमित्त या तो व्यक्ति बिल्कुल अकेला रहे, या भ० पदप्रेमी के सम्पर्क में रहे। आज के युग में किसी व्यक्ति का नितान्त अकेले रहना यदि असम्भव नहीं तो बहुत ही कष्टदायक अवश्य है। ऐसी स्थिति में जितना भी सम्भव हो सके साधक को चाहिए कि वह सज्जन पुरुषों के संसर्ग में रहे। हमारे ऊपर खान-पान तथा वातावरण का सीधा प्रभाव पड़ता है। 'बसि कुसंग चाहत कुसल, यहि 'रहीम' जिय सोच' निश्चय ही कुसंग में रहने पर अहित अवश्यम्भावी है। रावण के पड़ोसी सागर का बन्धन हुआ, दुर्योधन के साथ भीष्म तथा द्रोण जैसे महारथियों को भी नीचा देखना पड़ा, कलालिन के हाथ में पहुँचकर दूध की भी दुर्गति हुई। दुष्टों के बीच में रहने वाला ज्ञानी पुरुष सदैव उनके कटु-वचनों से पीड़ित तथा खिन्न रहता है।

यद्यपि अभावात्मक प्रभाव भी मनुष्य को दृढ़निश्चित शक्ति से कार्य करने की प्रेरणा देते हैं तथापि भावात्मक प्रभावों से निश्चय ही साधक को उत्कर्ष पाने में सरलता रहती है। अतः एतदर्थ ही प्रयास अपेक्षित है।

कुसंगति के इस प्रभाव के ठीक विपरीत पुष्प के साथ क्षुद्र कीट भी देवता के सर पर चढ़ाया जाता है, कांच भी मणि के सम्पर्क से चमक उठता है, लोहा भी पारस मणि के स्पर्श से सोना बन जाता है तथा ऋषियों के सम्पर्क में तोता भी वेद-वाक्यों का उच्चारण करता है। अतः गुरुदेव से प्राप्त भगवन्नाम की बेली को विशेष शोभा बढ़ाने के लिए सत्संग की शोभा परमावश्यक है। भगवन्नाम की लता सत्संग के उर्वरक से शीघ्र पनपती

१—तुलसीदास—रामचरितमानस, १-२-४
२—उपर्युक्त, ५-६-२

है। तुलसी की दृष्टि में तो सत्संग के बराबर कोई अन्य सुख है ही नहीं—

"तात स्वर्ग अपवर्ग सुख,
धरिय तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि,
जो सुख लव सतसंग॥" ३

सत्संगति के लिए प्रयत्नशील रहना उसे प्राप्त करना, साधक की बहुत बड़ी उप-है। सद्गुरु भाग्य से मिलते हैं। उनकी प्राप्ति होने का अर्थ है प्रभु का ही प्राप्त होना। तदनन्तर आध्यात्मिक ज्ञान के दीपक को संयम की हथेलियों से माया-मोह की झंझा-वात से सुरक्षित रखना और उसी के प्रकाश में लीन रहना साधक का करणीय धर्म है। भगवत्कृपा से सभी को ऐसा सुयोग मिले। यह कामना है। —×—

३—सुन्दर कां, ४-४

सुभाषित

-१-

यह सुखद संसार शोभा,
सद्गुणों का धाम है।
खोजना इसमें बुराई,
यह बुरों का ही काम है।
छोड़ दे पर-दोष-दर्शन
यह न अच्छी बात है।
आँख वाले देख दुनिया,
मूल्यवान महान है।

कर न निन्दा तू किसी की,
यह महा दुष्कर्म है।
और के अवगुण निरखना,
यह न मानव धर्म है।
दे हटा काई सदा ही,
पाँक किसी पर छोड़ की।
कर भले से प्यार लेकर,
तू भलाई लोक की।

-२-

रहा फूलता पुष्प कौन सा,
जिसका सदा वसन्त रहा!
जिसे जरा ने नहीं झुकाया,
यौवन शील अनन्त रहा!!

श्री 'दिव्य'

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥

जिससे रूप रस गन्ध शब्द और स्पर्शों को तथा मैथुन संयोग जन्य सुखों को भली प्रकार अनुभव करता है। फिर क्या यहाँ शेष रह जाता है अर्थात् वह परम आत्मा ही यहाँ शेष रह जाता है जिसकी कृपा मय व्यवस्था से इन सभी विषयों को अनुभव करने वाले इन्द्रिय गोलक हमें प्राप्त हुए हैं।

× × × × ×

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

स्वप्न और जाग्रत अवस्था के दृश्यों को जो पुनः पुनः देखता है और जिसकी व्यवस्था से देखता है उस महान आत्मा को ही जानकर मुमुक्षु तथा और धीर पुरुष दुखों से पार हो जाया करता है।

× × × × ×

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य,
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्
हृदा मनीषा मनसभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।

परमात्मा का कोई रूप नहीं, इसलिए वह नेत्र की दृष्टि का विषय नहीं। इसी प्रकार वह शब्द आदि का विषय न होने से कर्णादि इन्द्रियों को भी ग्राह्य नहीं। वह तो मानव के श्रेष्ठ बुद्धि से और पुरुषों के हृदयाकाश में ही अनुभव किया जा सकता है। जो इस तत्व को जान जाते हैं वे मुक्ति को पा जाते हैं।

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तमाहुः परमां गतिम् ॥

जब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर होती हैं और बुद्धि विचलित नहीं होती तब तब इसी स्थिति को परमगति कहकर पुकारा जाता है।

× × × × ×

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥

उपरोक्त परमगति को प्राप्त करके ही ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है। यही योग की अवस्था कही जाती है।

जब योगी इन्द्रियों की सब धारणाओं को एकाग्र करके अन्तर्मुख होकर आत्मा में रमण करता है तभी वह सिद्धावस्था में पहुँच जाता है।

× × × × ×

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

जब सब कामनाएँ छूट जाती हैं जो इस जीव के हृदय में स्थित हैं तब यह मरणधर्मा मनुष्य सचमुच अमृत हो जाता है और यह अमृत अवस्था ही उसको ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है।

× × × × ×

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा-
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

जैसे सूर्य सारे संसार का नेत्र है फिर भी संसार के बाह्य दोषों से अलग रहता है, उनसे दूषित नहीं होता इसी प्रकार सच्चिदानंद परमात्मा सब भूतों के अन्दर रहता हुआ भी लिप्त नहीं होता, अपितु वह इनसे अछूता ही बना रहता है। ऐसे पावनतम प्रभु को प्राप्त करके हम क्यों न अपने को पावनतम बनायें।

—✡✡✡—

संकल्प शक्ति

सब प्रकार की कामनाओं का मूल संकल्प से उत्पन्न होता है। व्रत (प्रतिज्ञा), नियम, धर्म—सब इसी संकल्प से उत्पन्न होने वाले माने गये हैं।

आज हमें जितने महापुरुष दीख पड़ते हैं, जिनके नाम पर संसार फूल चढ़ाता है और जिन्हें अत्यन्त आदर से स्मरण करता है, उनके जीवन को पवित्र और उच्च बनाने का कारण संकल्प शक्ति ही है।

आर्यों की ईश्वरीय और जगत की प्राचीनतम पुस्तक 'वेद' में अनेकों सूक्त इसी विषय के आते हैं, जिनमें बारम्बार यही प्रार्थना की गयी है—'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' अर्थात् मेरा वह मन पवित्र संकल्प वाला हो। यथा —

जो दिव्य मन जाग्रत अवस्था में दूर निकल जाता है और इसी प्रकार सोने की दशा में भी बहुत दूर चला जाता है, वह दूर जाने वाला ज्योतियों का ज्योति अर्थात् इन्द्रियों का प्रकाशक मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

कर्मशील, मनीषी, धीर पुरुष जिसके द्वारा परोपकार क्षेत्र में तथा जीवन-संघर्ष में बड़े बड़े कार्य कर दिखाते हैं, जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियों) के अन्दर एक अपूर्व पूज्य सत्ता है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

जो नये नये अनुभव कराता है, पिछले जाने हुए का अनुभव कराता है, संकट में धैर्य धारण कराता है, जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियों) के अन्दर एक अमरज्योति है, जिसके बिना कोई कर्म नहीं किया जाता-वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो।

जिस अमृत मन के द्वारा यह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान जाना जाता है, जिससे सात होताओं वाला यज्ञ फैलाया जाता है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

जिसमें ऋचायें, साम, यजु इस प्रकार टिके हुए हैं जैसे रथ की नाभि में अरे, जिसमें इन्द्रियों की सारी प्रवृत्ति पिरोयी रहती है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

अच्छा सारथी जिस प्रकार वेगवान् घोड़ों को बागों से पकड़कर चलाये जाता है, उसी प्रकार जो मनुष्यों को लगातार चलाता रहता है, जो हृदय में रहने वाला है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 June 1984

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सराई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री ....

....

....

....

भक्ति-योग

देवासुर-संग्राम के रूप में कवियों ने यह महा-तथ्य दर्शाने का प्रयत्न किया है कि हजार प्रयत्न करने पर भी मनुष्य की दैवी वृत्तियां आसुरी-वृत्तियों को उस समय तक परास्त नहीं कर सकतीं, जब तक कि वे प्रभु-प्रेम की शरण में नहीं चली जातीं, अर्थात् भक्ति द्वारा प्रभु चरणों में अपने अहंकार को समर्पण नहीं कर देतीं। यहां तक कि उनकी जीत भी पुनः हार में परिवर्तित हो जाती है, यदि कदाचित् उनके भीतर पुनः अहंकार स्फुरित हो जाय और वह इस जीत को अपनी जीत मानने लग जाय। जिस प्रकार कि प्रभु शरण में रहने पर जिस अर्जुन ने असंख्य कौरव दल का संहार कर दिया, 'यह जीत मेरी हुई है'—इस प्रकार अहंकार जाग्रत हो जाने पर उसी अर्जुन को एक छोटी-सी भीलों की टोली ने हरा दिया।

अतः शरणागतिक रूप में भक्ति-योग ही सर्वोपरि प्रतिष्ठित है और यही सत्य-पुरुषार्थ है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं।

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, कसाई कटरा, राजगंज, आगरा-१ फोन ६२१९८